नयी हिन्दी कविता विशेषांक

कविताएँ

अजित कुमार, अनन्तकुमार पाषाण, अनाम, अभय प्रताप, इन्दुप्रकाश पाण्डेय, किशोरी रमण टंडन, कीर्ति चौधरी, कुमार, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, कुँवर नारायण, केशवचन्द्र वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, जगदीश गुप्त, ज्वालाप्रसाद खेतान, परमानन्द श्रीवास्तव, प्रभाकर माचवे, प्रमोद गुप्त, प्रयाग नारायण त्रिपाठी, बालकृष्ण राव, भवानी प्रसाद मिश्र, भारतभूषण अग्रवाल, मनोहर श्याम जोशी, मार्कण्डेय, रमेन्द्र, रवीन्द्र भ्रमर, राजेन्द्र यादव, रामबहादुर सिंह 'मुक्त', रामविलास शर्मा, रामावतार चेतन, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, विजय शंकर व्यास, विपिन अग्रवाल, वीरेन्द्र कुमार जैन, वीरेन्द्र कुमार ठाकुर, वीरेन्द्र कृष्ण माथुर, शकुन्त माथुर, श्याममोहन श्रीवास्तव, श्रीकान्त वर्मा, श्रीहरि, सत्यकाम विद्यालंकार, सत्येन्द्र श्रीवास्तव, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सविता बनर्जी, सुमित्रानंदन पंत, संजय, हरि नारायण व्यास, हरिमोहन।

निबंध

डा० धर्मवीर भारती : काव्य सृजन : अन्तःप्रेरणा और पलायन
कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह : नयी कविता का आवर्त्त
रामावतार चेतन : आधार भूमि

●

प्रकाशक
क्षितिज प्रकाशन
भारतीय पुस्तक भण्डार, कालबादेवी रोड, बम्बई—२

●

वितरक
हिन्दी-भवन
३१२ रानीमंडी, इलाहाबाद–३

●

मूल्य : डेढ़ रुपये

आधार

(एक साहित्य सहकार)

●

सम्पादक

रामावतार चेतन

सत्येन्द्र श्रीवास्तव

●

प्रबन्ध सम्पादक

वीरेन्द्रकुमार ठाकुर

कन्हैयालाल नन्दन

●

व्यवस्थापक

रामबहादुर सिंह 'मुक्त'

●

चौमासा पत्र

द्वितीय वर्ष

प्रथम अङ्क

मार्च

१९५६

नयी हिन्दी कविता विशेषांक

आधार आभारी है

इस अंक में संगृहीत समस्त कवियों और लेखकों का जिनसे प्रकाशनार्थ रचनाएँ निःशुल्क प्राप्त हुई, साहित्य प्रेमी बन्धु श्री राम सहाय पाण्डेय और श्री शिवकुमार शर्मा का जिनसे प्रकाशन योजना में सहयोग मिला, और विज्ञापन दाताओं का जिन्होंने ऐसे विशुद्ध साहित्यिक पत्र में विज्ञापन दे कर विशिष्ट रुचि का परिचय दिया।

आधार में प्रकाशित

घूरती हुई आँखें

अजित कुमार

रात थी अँधेरी और
भूतों की टोली,
पीपल के तले और
बेलों के झुरमुट में
देती थी फेरी !

भूतों से क्या डरना !
आखिर तो हम सब को
मरना है, और भला क्या करना !
हम जो कहलाते हैं भारत के पूत-
हम भी तो होएँगे ऐसे ही भूत।
इसी तरह सोच-सोच
हिम्मत बँधाई मैंने काँपते से मन को !

और तभी कमरे के किसी एक कोने में
दिखीं मुझे बेधती सी चमकदार आँखें !
काँपता सा मन हुआ जैसे निस्पंद,
डर के मारे मैंने आँखें कीं बन्द ।

बीत गए कई साल !
लेकिन अब भी तो मेरा है वही हाल,
एक उसी घटना को पाता मैं नहीं भूल !
याद मुझे आती,
(ज्यों : आते थे याद वर्डसवर्थ को डैफोडिल फूल !)
दीखतीं अँधेरे में हैं मुझको अब भी
चमकीली, तेज, बेधती, सम्मोहन करती-
बिल्ली की दो आँखें !

अंधकार पाप है
और अज्ञान भी !
लेकिन जिसको भेदें बिल्ली की आँखें—
रह कर अँधेरे में भी पाप क्या करेगा वह :
घूरती हुई आँखों की स्थिति का ज्ञानी ।

ज़िन्दगी यूँ ही तमाम...

अनन्तकुमार
पाषाण

कच्ची सुबह कि खट्टी सुबह
 है बूढ़ी दोपहरी की माँ !
कुट-पिट कर बन गयी रोशनी
 तब तक तो कीमा !

कच्ची सुबह कि खट्टी सुबह,
न जीवन पका, न मन ही छका,
चला दो कदम, न तन ही थका;
फटी है जेब, कटी तंखा,
बग़ावत कर दो, उलटा दो
जगत भर को—विचार चमका !—

मगर फिर 'अगर'-'मगर' चल पड़ा
चल पड़ा जीवन का छकड़ा,
न जिसमें बैल, न ही पहिये !
भर गयी तबियत, बहुत जिये—
और फिर एक बात रह गयी,
हवा भी मानों यह कह गयी—
कच्ची सुबह कि खट्टी सुबह
कि कच्चा बिना पके झर गया—
आम आशा का, पक भी गया
तो पिलपिल-पिलपिल ही हो गया !
आम की यहाँ बात क्या है ?
आम का यहाँ भाव क्या है ?
रह गयी गुठली केवल एक—
दफ्न कर दो मिट्टी में उसे,
मिलेंगे आम, रहेगा मजा !
मगर तब तक तो हमको चूस
जायगी कज़ा ! हमारी कज़ा !

(२)

पकी दोपहर कि यह दोपहर
अँगीठी-सी जलती दोपहर !
करोड़ों लिये मशालें हाथ
सड़क पर चुप चलती दोपहर !
भई, फटता जीवन का दूध,
जड़ें सड़ जातीं आलू की—
गरम सड़कों पर क़त्लेआम,
रबर के जूते का अंजाम—
गर्म सड़कों पर भुनते पाँव,
और बारिश में गिरें धड़ाम !
गिरें, फिर चुप हो नीचे देख
लिये चमगादड़-छाता हाथ
चल दिये उसी तरह से तेज़,
हो लिया कुत्ता भी तो साथ— !

बिना भूँके नीचे मुँह डाल
दे रहा है कुत्ता सन्देश—
"पकी दोपहर कि यह दोपहर
न अकड़ेगी दो घण्टे बाद !
शाम का आते देख जुलूस,
अकड़ होगी उसकी बर्बाद !"

(३)

पीली शाम कि गीली शाम !
मरोड़ी सूरज की गर्दन !
मुरझती शाम ! उरझती शाम !
भाप में मरे फूल-सा मन !
नगाड़े दिन के बन्द हुए—
पहाड़े सौ तक खतम हुए,
किताबें, स्लेट, पैन्सिल धरो
ताक़ पर, चलो खेलने चलो !
राख के ठंडे छू कर हाथ
आग का दिल होता खामोश ?
आग को आ जाये फिर ताव
गीत ऐसा गाओ पुरजोश !
हज़ारों क़दम चूम कर उठी
धूल जो खुशामदी मर गयी,
न खिसियानापन मिटा सकी
नाक में, आँखों में भर गयी !
सूखती ढक कर छज्जा जो कि
धुली चादर नीचे गिर गयी—
घटा जो थी गलियों में बन्द
निकल चौराहों पर घिर गयी—
हुआ मुर्ग़ा हलाल फिर एक—
मर गया दिन ! यह अर्द्ध विराम !
थम गयी खाँसी ! फूली साँस !
नाक को करता बन्द जुकाम !

मटकियाँ रीती, नल हैं बन्द !
मात्राएँ कम, अटका छन्द !
रौशनी की बगिया खा गयीं
सितारों की बकरियाँ आ गयीं !

(४)

और फिर वही पुरानी रात—
झर गया एक और फिर पात,
पसारो पाँव, पसारो हाथ
करो आराम ! सुबह है काम !
दिनों का, सालों का चक्कर
तोड़ कर बिस्तर से उठ कर
हँसेगा फैला मधुर गुलाल
सवेरा रँग दुनियाँ के गाल !
नसों में वह भर जायेगा !
बात बढ़िया कर जायेगा !

एक स्थिति

अनाम

प्यार का दीपक
उढ़ाता कालिमा है चाँदनी को
तुम कहो,
मैं कल्पना के तन्तु सुलझाता रहूँ
विलुलित हँसी के तार उलझाता रहूँ
जिससे सुनहली चाँदनी है
मैं तुम्हारी उक्ति का धीर विश्लेषक
मान लूँ, पहिचान लूँ
रेणु में झङ्कार पग की
प्रतिरूप में ही प्यास दृग की
घुमड़ घिर आई लटों का जिज्ञासु
मैं समझ लूँ, जान लूँ

कालिमा का रूप
जगमगाया तारकों से
मनोमय तत्वाकार का
स्तरित विस्तार
जिसकी अभावक अंक में
तिलमिलाती नन्ही शिला
दर्द से लथपथ पुकार......

आगत

अभय प्रताप

दरवाज़े पर थाप पड़ी है—
पहले ज़रा झाँक खिड़की से देखो
लगता है, कोई आया है !

जल्दी से पूरब की खिड़की का तुम
पर्दा खींच हटा दो—
ताकि सुगंधित हवा गर्म सी
कोने कोने में भर जाये;
और धूप की तिरछी किरणें
सीलेपन को छू गर्मायें;
झाड़न लो, शीशे के इन धब्बों को
कस कर, पोंछ मिटा दो !
वहाँ शेल्फ़ में धरी किताबों पर से
जाओ, धूल झाड़ दो।

सजा करीने से गुलदस्ते
के प्रसून को दो थोड़ा जल,
यहाँ मेज़ पर ख़ातिर को ला
रख दो मीठा, मेवा, औ फल;
हाँ ! कोने में पड़े दाग़ पर धर कर
कुर्सी उसे आड़ दो !

लो, अब कमरा ठीक हो गया; जल्दी
जा कर द्वार खोल दो।
उसको तुम सम्मान सहित ला
इस सोफे ऊपर बिठलाओ;
जो सामान मुझे देने लाया हो
वह भीतर रख आओ;
झुका शीश, उसके अन्दर आते ही
मीठे शब्द बोल दो!

सच कहता हूँ, आने वाला
मेरा कितना पहचाना है!
दरवाज़े पर थाप दे रहा—
निश्चय ही वह जन्म दिवस है!

टूटता विश्वास

इन्दुप्रकाश
पाण्डेय

बिखर जाती है
मेरी आस,
फटी झोली में
बँधे दानों की भाँति;
कुछ भी नहीं पास
ह्रास! ह्रास!

गगन में—
बहता हूँ,
निराधार;
वायु के साथ,
फटे बादलों की भाँति;
किसी का मधुमास
मेरी प्यास।

राह की डोरी,
गुलाबी रूप की रेखा,

बहते हुए व्योम में,
नन्ही सी नाव,
दिखती है—
तिनके के सहारे की भाँति;
महज दिखती है—।
और काश.........।
हाथ उठते नहीं;
मुँह खुलता नहीं;
सब कुछ पास,
और दूर भी
धरती और व्योम के मिलन...
मिलन नहीं; छलना की भाँति
चारो ओर,
आस पास ।
मेरी थकी आँखों में,
कोमल खुली बाहें
सरल तरल आँखें
गुलाबी होंठ
और लाल कपोल
एक साथ धँसते हैं;
पर आते नहीं।
निकट अभिशाप की भाँति ।
दूर वरदान की भाँति ।
और
टूट जाता है विश्वास ।

अनागत

किशोरी रमण टंडन

वह
जो भी आने वाला है
वह वर्तमान है
पर भावी का रूप बनाने वाला है।
वह आकर इस दुनिया में
बिल्कुल अनगढ़ पत्थर-सा होगा
जिस पर यह समय
हाथ में लेकर
घटनाओं, तथ्यों, अनुभवों आदि की
पैनी, लम्बी छेनी
उस अमूर्त को मूर्त करेगा
रंग भरेगा
उसका रूप निखारेगा
फिर उसे छोड़ देगा
खुद के बलबूते पर
बनने को कवि या कलाकार,
या संत दार्शनिक
सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का सच्चा साधक
या फिर मकड़ी-से राजनीति के
ताने बाने में फँस कर
इन्सानों का नेता बनने
या सौदागर इन्सानों का,
जिन इन्सानों का
वह अपने को कहता है जायज़ बेटा।

एक कविता

कीर्ति चौधरी

अंधकार तो नहीं हूँ,
रंग रूप रेखा जो सब कुछ छिपा ले।
और ऊपर से चुनौती यह देता फिरे—
कोई भला मुझे चीर आकृति दिखा ले।
सूर्य तो नहीं हूँ
ज्योतिर्मय चन्द्र भी नहीं।
घन जल नहीं हूँ
अदिति पुत्र मारुत भी नहीं।
तो भी कुछ ऐसा हूँ—
आओगे निकट तो,
दूँगा—प्रकाश
हास
तृप्ति
श्वास
वायु-जल-प्रकाश तो बहाना है।
जीवन क्षण दो क्षण,
जो जाता जिया
वह मेरे या तुम्हारे ही पास।

तसवीरें

कुमार

अभी रात है।
दूर प्रात है।
अभी घुटन है,
अभी उमस है,
सन्नाटा है
और तमिस्रा—
जैसे कोई काला कम्बल ओढ़
जादुई छड़ी हाथ में लिए
आ गया हो धरती पर,

बेहोशी में लय कर देने,
पलक-पलक को छू-छू कर निज
कुशल स्पर्श से
स्थिर कर देने
मँडराता हो जा-जा सिरहाने-सिरहाने !
अभी स्वप्न हैं,
घर्राटे हैं,
जल कर पिघला हुआ मोम है,
कहीं सिसकता हुआ दीप है,
कहीं भूँकते कुत्तों,
स्यारों की आवाज़ें,
निर्जन पथ हैं।
और कहीं पायल की छमछम···
कहीं-कहीं पर नई सुबह के ताने-बाने···
केवल एक जगह बजती है शहनाई,
जाने किस खुश-किस्मत के घर
इतनी रात गए
आती बरात है !
किन्तु हर जगह अभी
रात है।
··· ··· ···

अभी भोर है।
अलसाए-अलसाए जग के
लोचन-द्वय हैं,
रग-रग में ताज़ी उमंग,
धुन लगी ज़िन्दगी बिफरी-बिफरी,
जाग्रत-जाग्रत ओर-छोर हैं।
पूर्व क्षितिज पर
नए-नए रंगों का सामंजस्य हो रहा।
हँसती धरती, हँसता है आकाश;
धरित्री की छाती पर कोई
हँस-हँस लगा रोपने

नई ज़िन्दगी और नए जीवन का पौधा !
श्वेत कपोतों की जोड़ी भी
आपस में कुछ बोल-बता कर
दूर मुँडेरों पर जा बैठी,
गौरैयों ने शोर मचाया
और दीमकों के ढूहे पर
चीख-चीख तीतर जा बैठा।
घर का कुत्ता जाग गया है,
डाँट रहा है पूँछ खड़ी कर
जाने किस अजनबी श्वान को,
उसको भय है
उसका दिन ख़राब बीतेगा—
(कहता जैसे :
सुबह-सुबह किसका मुँह देख लिया मैंने भी !)
अपनी भाषा में उसने उस
नामाकूल श्वान को
उसकी कम-अक्ली पर
शायद बुरी गालियाँ दी हों !
शोर-शराबा,
खट्-खट्, टन्-टन्,
भला-बुरा, क्रय-विक्रय का
बाज़ार गर्म अब।
उधर सामने,
नयी सड़क पर
बँधी पुलिस की हथकड़ियों में
गुज़र रहा है एक आदमी,
शायद कोई नया चोर है,
कहीं रात में इसने सेंध लगाई होगी—
क्यों कि इन दिनों चोरों का हर तरफ़ शोर है।
पर चिन्ता क्या ?
बहरहाल, हर जगह भोर है !
... ...

शाम आ गयी।
सूरज डूब गया पश्चिम में,
तारों का कारवाँ उठ पड़ा
और धरा पर
दिन के श्रम की थकन मिटाने
लिए शान्ति का जाम
मनोरम शाम आ गयी।
और क़दम घर लौट चले
खिंच मुस्कानों के आकर्षण से,
क़दम ज़रा वज़नी हैं लेकिन
मन हल्का है,
पत्नी राह देखती होगी,
नन्हें-मुन्ने चौराहे आ गए न हों सब,
क्योंकि पिता के आने का तो यही समय है।
कृषक सभी लौटने लगे,
कन्धों पर हल हैं।
बाजारों में चहल-पहल है।
पंछी बैठ गए नीड़ों में,
मुरझाए पौधों का मन अब हरा-हरा है,
दिन भर के पश्चात् अभी ही
मधुर पवन लहरा है;
आसमान पर
आज दूज का नया चाँद उभरा है।
कहीं खुल रहे नए फलसफे,
कहीं पर राजनीति के तर्क,
कहीं पर दिन भर का इतिहास,
कहीं साहित्यिक वाद-विवाद,
कहीं क़हक़हे, चुहल के दौर
कहीं पर बात अनाप-शनाप,
ग़मों-फ़िक्रों का बेड़ा ग़र्क़!
गिरा अभी ही
वहाँ सामने वाली नाली पर औंधे मुँह

शायद कोई
भुला रहा ग़म
दिन के श्रम का इसी तरह से !
शायद कोई आवारा हो
या कि गर्दिशों का मारा हो—
शायद उसकी बहुत दिनों की भूखी तृष्णा
किसी तरह से
एक नशीला जाम पा गई,
शायद उसकी पीड़ित आत्मा
चाह रही थी सो जाए जो
पर न सकी सो,
और इस तरह कोशिश कर के
बहुत चैन,
आराम पा गई !
सूरज डूब गया पश्चिम में,
शाम आ गई ।

नया स्वर

कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह

यह नया स्वर है,
अजी बिलकुल नया है ।
नया है, कुछ अजब लगता है,
अजब लगता है मगर कुछ गज़ब करता है ।
चौंकिये मत,
नया है तो क्या, है आख़िर आपका ही तो ।
नहीं समझे !
साफ़ मतलब है—
जो कल कह रहे थे, सुन रहे थे,
वह पुराना था नहीं, अब हो गया है;
और जो अब कह रहे हैं, सुन रहे हैं,
वह नया स्वर है ।

बात ऐसी है
कि कहना चाह कर भी जो नहीं कल कह रहे थे,
या नहीं कह पा रहे थे,
वह पुराने की विवशता थी ।
अब विवशता मिट रही है,
मौन धीरे खुल रहा है,
यह नये स्वर का करिश्मा है ।
नये स्वर का, जो कुहा से दीप की लौ की अदावत है,
नये स्वर का, जो पुराने की विवशता की बगावत है ।
बगावत है,
जी हाँ, यह क्यों छिपाऊँ,
यह बगावत है ।
मगर कुछ दूसरा ही रंग रखता है ।
मतलब—
यह नही समझें कि यह बिलकुल निरर्थक है,
यह नया स्वर है, आकाशी है, पलायन है,
नहीं, यह सब कुछ नहीं, यह नया स्वर है—
तप्त मिट्टी की व्यथा है ,
क़लम लगने की कथा है ।
वृक्ष लगता है, उखड़ता है,
फिर नया पौधा पनपता है,
फूल खिलते हैं, भ्रमर फिर से भरमते हैं,
भार से मधु के फलों के सहम कर डाली ज़रा आँखें झुकाती है—
वहाँ पर,
फूल के लगने,
फलों के टपक पड़ने—में
नया स्वर है ।
घास लहलह खूब करती है
तभी जब हौसलों की बाढ़ आती है,
नदी सागर के लिये सुधि में सनक कर
दौड़ पड़ती है तभी जब लाज उसकी भाग जाती है,
लहर तट पर पहुँच कर है पीटती छाती—

तभी जब बाँह में उसकी बँधा कोई निकल कर भाग जाता है,
सिन्धु में भी—याद करता है कभी जब वह किसी को—
ज्वार आता है;
हौसलों की बाढ़ में, सुधि की सनक में,
लहर की तड़पन में, सागर की कसक में—
और कोई नहीं, जो है, नया स्वर है।
युद्ध होते हैं,
धरा अपने सपूतों के लहू में भीग जाती है,
ध्वंस के ज्वालामुखी से खौफ खाकर
सृष्टि भी मजबूरियों में मुँह छुपाती है;
किन्तु,
फिर जब जागता है मनुज
उसकी आँख खुलती है—
ध्वंस रोता है, धरा खुल खिलखिलाती है,
सृष्टि सजती है, नया इतिहास होता है—
उस नये इतिहास का स्वर नया स्वर है।
नया स्वर माने नयी अनिवार्यता का स्वर !
नया स्वर माने अटल भवितव्यता का स्वर !
मनुज की सम्पन्नता में
लगा है जो गूँजने
दारिद्र्य का खलहास,
प्रगति के पथ में लगी है टाँग जब अपनी अड़ाने
अगति आ बेलाज :
आणविक संधान, उद्जन-बम-परीक्षण से
नहीं होगा जगत् का त्राण—
त्राण का स्वर तो नया स्वर है।
नया स्वर, जो धरा पर चलते हुए लाखों जनों के प्रेम का स्वर है,
नया स्वर, जो क्रूर हिंसा के समय बलिदान का स्वर है,
नया स्वर, जो चीर कर छाती धरा की फूट निकले बीज का स्वर है,
नया स्वर, जो प्रलय के तूफान के सर पर खिले
मनु-फूल का स्वर है।
यह नया स्वर है, नया हरदम रहेगा,

नया इसका रूप होगा, रंग होगा।
नया है तो, नया है, फिर बुरा क्या है?
वह, नहीं जो नया था या नया है,
फिर क्या भला है।
हर नयी निंदिया नया सपना सजाती है,
हर सुबह सज कर नया मंजर दिखाती है,
नये का कुछ रूप अपना खास होता है,
हर नये स्वर का नया इतिहास होता है।

मैं जानता हूँ...

कुँवर नारायण

मैं जानता हूँ आज ये गान नहीं सँवरेंगे,

सागर के फेनिल उच्छ्वास
शान्ति लाते हैं,

घूमता हूँ अनमना
कि इस तन्मय जलखंड की अहरह सलिलता
कर्कश कगारों की अखरन को छेंक ले;
व्योम-व्याप्त
भूमि-पास
कण-कण को लिपटाए कातर आलोक का
अस्तव्यस्त ढारस स्वर
मेरे आमोद-हीन अन्तर में रम जाए,
और वह चिकोटता प्रतिपल बेस्वाद दर्द
शान्ति में अनूदित हो
तम-पट पर उतर आए:

पर क्यों इस ऊर्ध्वमान लक्ष्य की तराई में
सीली-सी आर्द्रता?
दीख रहे मेघों की फूटी पपड़ियों तले
लाल अनपुरे घाव:
सूखे पाषाणों की काई जमी दरारों में

छिपकली सी चेतना :
काल की चपेटों से छिला दरदरा वाद्य,
सिसक रही वेदना :
नहीं, आज जीवन के स्वप्न नहीं ठहरेंगे;
मैं जानता हूँ
आज ये गान नहीं सँवरेंगे।

मौत : एक और पहलू

केशवचन्द्र
वर्मा

यह जो तुम स्वर्गीय (?) हुए
खूब हुए !
रेडियो ने सुबह शाम जिसको दुहराया
गोहराया :
तुम थे यशःकाय
स्वभाव से बिल्कुल गाय
सुना, मारा था तुमने किसी पटवारी अधिकारी को
जब थे तुम निरीह ब्यॉय !
तब से जीवन भर लीडरी का ही तुमने किया व्यवसाय
सारा देश तुमने हवाई जहाज़ से नापा
देश का कोना कोना तुम्हारे वक्तव्यों से काँपा
अखबारों ने तुम्हारा जीवन चरित छापा
मोटी 'हेडलाइन्स' के नीचे हँसते हुए फोटोग्राफ
(बचपन से बुढ़भस तक के
मारते हुए पटवारी से ले कर
श्रमदान के लिए उठाए हुए फावड़े तक के !)
कैमरा मात्र ही जीवन था तुम्हारा !
कॉलम पर कॉलम लेख छपा
(जो पहिले ही से हर प्रेस में
कम्पोज़ हुआ रक्खा था !)
सब पढ़ सुन दफ्तर जो पहुँचे
तो यह जाना—
आज मरी-छुट्टी है !

इतवार के दिन भी
बैलों की तरह काम कराने वाली कुर्सियों पर
शोक प्रस्ताव पास कर
सिगरेट बाँटते हुए
आज लोग वक्त काटने के लिए
दियासलाइयाँ उछाल कर खेल रहे हैं !
कुछ जो घर गए
अपनी बीवी बच्चों के पास दिन बिताएँगे
घर का सामान लाएँगे
(हाँ यदि दूकान भी बन्द रही
तो जरूर तुमको याद फरमाएँगे !)
मरी-छुट्टी मनाएँगे
खा पी कर सो जाएँगे !
जी कर जो दे नहीं पाए तुम
आज—
एक क्षण को ही सही
किसी कदर
तुम्हारे नाम पर जरूर पाएँगे !!

अमरत्व की झलक

गिरिजाकुमार माथुर

कोशिए कढ़े हुए नमूनों से
रोशनी-धुएँ के अस्थिर रेखाचित्र गढ़ती
बुझे, जले दीपों की पाँत एक बढ़ती है
धुँआँ, गुल, चिनगारी
दीपन, चमक लिए
लालसा भरी हर मूरत को
टँकती सूरत को
कौली में भर
अंधकार लील लेता है
रोशनी-धुएँ का सब दर्द
सोख लेता है

यह बुझन भी एक दिन
ख़त्म हो जायगी
चमकीली रेखा
क्रम क्रम कर
आगम की मुट्ठी में बंद हो जायगी

लेकिन कुछ और है
जो
फिर भी रह जायगा
उन्मीलन, दीपन, बुझन के बाद भी
जो काल-शृंखला से ऊपर उठ जायगा
संचरित होगा
विगत औ' भविष्यत्
दोनों ओर
एक साथ
समान गति से

यह कुछ ही है जो
आगे भी जायगा
वह ही हमारा है
नामहीन, अलोनी धातु है
शिलाओं की आत्मा है
जल फुँक कर जिसे
चुटकी भर भस्म
बनना गवारा है

धर्म का प्रहर

गंगाप्रसाद श्रीवास्तव

शंख घंटे बज रहे
घड़ियाल घहरा रहे
आरती हो रही
ओ३म् जय जगदीश हरे...
बीसों कंठों से फूट रहा
दिन रात से मिल रहा है,

सांध्य बेला; धर्म का प्रहर है,
लोग पुजापा, फूल-माला
ले ले कर दौड़ रहे
पुण्य कमाने
अपने पिछले पाप मिटाने !
इधर रिक्शे वाले ने
एक के चार वसूल किए
ताँगे वाले ने एक अजनबी को
फँसाया, मूँड़ा !
बोझा लिए लड़खड़ाते कुली पर
बाबू जी बिगड़े, बरसे !
दूध वाले ने नल पर
मिलाया पानी,
हलवाई ने प्रसाद के लड्डुओं में
वनस्पति गलाया !
मनचलों ने मंदिर में
युवतियों को धक्के दिए,
पिछवाड़े बाग में छेड़ा !
नीचे धर्मशाले की ड्योढ़ी पर
देहाती दम्पत्ति को दरबान ने डाँटा—
'फोकट में रहोगे,
खाला का घर है ?
ऊपर कीर्तन का स्वर गूँजा—
'रघुपति राघव राजा राम
पतित पावन सीता राम'
मैंने अपने कान,
ढँक लिए !

लोहार की दूकान

जगदीश गुप्त

चाँद की निहाई पर
एक के बाद एक
लगातार घन चलते रहे
आवाजों की तीखी चोटें दिशाओं को गुँजाती रहीं।
तारों की चिनगारियाँ
छिटक छिटक कर
सारे आसमान में फैलती रहीं।

पसीने की बूँदें—
झुटपुटे में ओस को कौन देख पाया झरते हुए।
भोर के बलिष्ट हाथों ने
पूरब की भट्ठी से लाल लाल दहकता गोला निकाला
पर वह निकलते ही रात की काली सँडसी से छूट गिरा।
गिरते ही ढुलक चला पच्छिम की ओर
अँधेरे के लोहार ने लाचार
सुबह से ही अपनी दूकान बढ़ा दी,
ताजी हवा की ठंडी साँसें भरते हुए।

परिचय

ज्वालाप्रसाद खेतान

सूरज ढल रहा—
धूमिल सा मानस के क्षितिज पर
फैला था सौंदर्य—
भावना सा-रूप-हीन निःसीम
बचपन की साँझ में।

दीपक की लौ सी
स्नेह से भीगी, काँपती लता सी
भावनाओं के कम्प पर
अबोध सी आई
अनजान

अपने में सौरभ सुगन्ध लिये
तरुणाई !

दीपक का प्रकाश ज्वाला सा जल उठा
फैली जो चाँदनी चाँद के तन से।
पूछता मन आज—
कह दो मन की मन से !
जीवन का ताप यह खिल उठे पंकज सा,
फैली सी हूक यह
बन उठे कोमल स्पर्श
और खिल उठे, मुस्कान जले अधरों पर
...   .
ढुलका लेंगे आँसू भी आँखें भर आने पर !

ऐसे न देखा करो

परमानन्द श्रीवास्तव

ऐसे न देखा करो मुझको
ऐसे नहीं, ऐसे नहीं...
कि मैं भटकूँ
पथ खोजूँ
याद के कुहासे-सी
मेरी लाचारियाँ
मुझे बढ़ कर रोक दें
मेरे पथ में पत्थर धर दें
अनदेखे अनजाने जादू टोना कर दें...

ऐसे नहीं, ऐसे भी नहीं
जो पहाड़ उलट देने के हौसले जैसा मैं
रुक जाऊँ, झुक जाऊँ,
सपनों के उगने से पहले ही चुक जाऊँ,
बँध जाए दीठ के डोरे से एक प्रश्नचिह्न;
तुमको मैं समझूँगा धीरे-धीरे—
तुम तो कठिन हो-कि,
आँख भर लाती हो

कितना मैं बेबस हूँ
समझ नहीं पाती हो ।
ठहरो, ओ तुम, ठहरो
तुमको मैं जान रहा हूँ
तुममें मेरी खोई हुई परछाइयाँ दिखाई दी हैं
हाँ, तुम हो,
तुम्हीं हो,
पहचान रहा हूँ—पर,

ऐसे न देखा करो मुझको···
ऐसे नहीं, ऐसे भी नहीं—
कि बाजुओं का तनाव
मेरी गति को ही मोड़ दे
मुझको ही तोड़ दे—
याद नहीं आता है
तुम्हें मैंने कब देखा
कब परखा
कब तुमने अपने सहारे से मुझको जकड़ लिया
अपनी उँगलियों से
मेरे अजन्मे सपनों को पकड़ लिया
कि तुमसे छूटें हो नहीं
भटकें तो भटकें
टूटें ही नहीं······

आँखें साफ़ हैं
आँखों में तुम,
केवल तुम हो—
तो भी कुछ ऐसा है—
जो, देख नहीं पाता हूँ
जैसे सचाई की, तुमसे जो पार है
रेख नहीं पाता हूँ,
ठहरो, ओ तुम ठहरो
पहचान रहा हूँ धीरे-धीरे···

पर,
ऐसे न देखा करो
ऐसे नहीं, ऐसे नहीं···
आओ तो चलें साथ
ओ तुम,
मैदान अभी बाक़ी है
मेरी आँखों से ये उँगलियाँ हटाओ तो
देखो वह पथ का वीरान अभी बाक़ी है

उफ़, तुम तो कठिन हो, कि
आँख भर लाती हो
कितना मैं बेबस हूँ
समझ नहीं पाती हो—
ऐसे नहीं,
ऐसे नहीं,
आती हो ?
देखो वह पथ है—!

मध्यवर्ग का ऐसा ही मन

प्रभाकर माचवे

उन्मन उन्मन, अधबहरा फिर भी सुन लेता है खन-खन
इनके मन में गहरी घुमड़न
उमड़ न पाए ऐसे विषमय कई घुटे से मनोभाव हैं।
पूरी हुई न ऐसी कई उमंगें अनगिन
पूर न पाए, बहते, और बे-दवा ऐसे कई घाव हैं।
इनके मन में सदी-सदी के
बोदेपन के, बदी और नेकी के निश्चित रूढ़ नियम हैं
बद्धमूल, धुँधले, अनदीखे
हैं संस्कार और विश्वास, सोचते हैं बस हम ही हम हैं।
इनके मन में अजब कुहासा
सब कुछ जिसमें मिश्रित-मीलित, स्पष्ट नहीं कोई भी मारग,
जग में इनका नहीं भरोसा
जिधर चल दिए सभी लोग ये भी चलते उस दिशि में डगमग।

आज नया हो डौल, अरे

कहते हो तुम सैर करें या खेलें हम फुटबौल; अरे
तुमको भी यह सूझी खूब मखौल, अरे
आज नया ही डौल अरे,
'लावा' उड़ा खौल, अरे।
मुँह पर ज्वालामुखी-शृंग के बैठ कर रहे ठंडी बातें,
जब अंदर से धीरे-धीरे ऊष्ण श्वास हैं आते-जाते!
तुम कहते-अध्यात्म और शाश्वत नैतिक मूल्यों का क्या?
जब कि पड़ी दो जून पेट की हाय बुझाने की चिंता!
पिकनिक्? हुँह, लाहौल अरे,
क्या देवी क्या कौल, अरे,
यहाँ चल रहे कदम-कदम सब तौल अरे,
कल होंगे सब सैरसपाटे, आज नया ही डौल अरे।

जैसे तुम आईं

प्रमोद गुप्त

छितरी विटप छाँह
फैली हुई राह
सूनसान
उमगती जुन्हाई

टीले पर मौन पेड़
सधे सधे डाल पात
राह सरकती जा कर
चुपके से ठहर गई
जैसे तुम आईं।

धुन्ध धुन्ध आसमान
किरणों का मेघों में डोलना
ओठों पर मौन, कम्प
उँगली का वेणी से बोलना

दीठ, दीठ पकड़ रही
आज के अकेले में
वही गूँज आई।

मकड़ी का जाला

प्रयाग
नारायण
त्रिपाठी

मेरे चारों ओर बिछ गया है जो यह रेशमी जाल
उसको मैंने खुद ही तो मकड़ी बन-बन कर
दिन-रात बुना है
नये-नये झीने तारों को
अपने से बाहर फैलाते जाने का बेचैन मोह
मैंने ही तो रह-रह पाला है
अगर आज मैं इनमें खुद ही उलझ गया हूँ
अगर द्वार को छू कर भी मैं उसके सीले,
अँधियारे कोने में सिमटा सिहर रहा हूँ
अगर प्रतीक्षा···रक्त-पिपासा·· तृप्ति···प्रतीक्षा···
रक्त-पिपासा···
आज यही है जीवन का क्रम
तो अपनी दुर्बलता के इन अभिशापों को
चुप हो कर सहना ही होगा
और कदाचित्
कभी मुक्ति की तृष्णा जागे
तो चुन-चुन कर एक-एक ये उलझे धागे
मुझको ही सुलझाने होंगे
एक-एक कर इनको सबको पीना होगा
महज़ बाहरी तेज़ हवा के इन झोंकों से
नहीं दर्द के ये ताने-बाने टूटेंगे।

स्पर्श

स्पर्श एक नयी सार्थकता भी हो सकता है
और एक जर्जर व्यर्थता भी
वह एक नयी मिठास भी हो सकता है

और एक दुर्बल तिक्तता भी
वह एक नयी आस्था भी हो सकता है
और एक परिचित वंचना भी—

स्पर्श की आग
और स्पर्श की हिमता—
ये ही हैं जिनको मैं समझ पाता हूँ
मैं झलमलाती धूप में झुलस जाना चाहता हूँ
या बर्फ़ीली छांव में सो जाना
यह धूप-छांव के हेल-मेल का खेल :
इससे मैं तीव्र घृणा करता हूँ

वक्त कम है···बहुत···बहुत ही कम
देखो···उस मैदान को देखो···
दौड़ वालों की कतारें बँध चुकी हैं
और पांव जम चुके हैं
और उँगलियाँ धरती को छू चुकी हैं
और आरम्भक का पिस्तौल वाला हाथ ऊपर उठ चुका है

अपने इस कमजोर हाथ से कह दो कि
कब्ल इसके कि मैं इसे झटक दूँ
और क़तार में जा मिलूँ
यह हथेली से खुद उतर जाये।

अँधेरी रात

बालकृष्ण राव

वह अँधेरी रात
कितनी शान्त, शीतल !
कल्पना सी मुक्त ! कवि के
धर्म सी गम्भीर ! कवि के
कर्म सी निष्काम ! कवि के
मर्म सी कोमल !

अकेली
विजन वन-पथ पर भटकती
सिंहनी सी
वह अँधेरी रात,
जिसका भय तृदव में है समाया;
इसलिये छिप कर कहीं
बैठी हुई है
(ज्ञानियों के शान्त मन में बेकली सी)
निकल बाहर
छिटक जाने के लिये है
छटपटाती
चाँदनी अवदात ।

कवि की प्रेरणा है
या स्वयं कविता ?— न जाने
यह अँधेरी रात ।

परिस्थिति और जीवन

भवानी
प्रसाद
मिश्र

१

एक हल्का फूल
जिसके लिए हो अनुकूल संध्या,
सुबह जिसके लिए तीखी पड़े,
वह कहे किस भाँति सूरज से
कि हे प्रभु, भले आये,
दरस पाये, भाग मेरे बड़े !
शाम को जो खिला है
कैसे सुबह की किरन से
जी खोल कर
बोले, हँसे, इठलाय,
रात-भर जिसने
उँडेली है सुरभि-हाला

पियालों पर पियाले
गगन-भर तारक-सभा में
किस तरह माने बिना श्रम
तम न माँगे
किस तरह वह उजेले को
आँख में बिठलाय !
क्यों न वह चाहे
कि जाते चाँद और अनंत तारे
गगन में घिरता अँधेरा
सुरभि-हाला ढालनी पड़ती नहीं,
क्यों न वह चाहे
कि धरती पर गगन की दया
तम बन कर उतरती
किरन गड़ती नहीं कोई भी
भले शीतल, तप्त
या कि प्रतप्त है वह !
यह परिस्थिति की ज़रूरत है
कमल चाहे तो
हँस कर कहे—
कैसा खला है यह !!

२

चाँद, तारे, हवा और
प्रकाश-पानी जिये जिसने,
सुबह किरनें, रात में
नीहार के कण पिये जिसने,
जगे उसमें फूल
तो संध्या-सबेरे की बहस
फ़ाज़िल बहस है;
क्योंकि खिलना और मुरझाना
हज़ारों प्रक्रियाओं में
महज़ दो प्रक्रियाएँ—
एक अचिंत्य, अनादि क्रम की शृंखलाएँ;

और ऐसी शृंखलाएँ
जो हज़ारों बार जुड़ती-टूटती हैं !
अरे, जीवन और मरण की गाँठ
बँधती-छूटती हैं
जिन अँगुलियों से
उन्हींने तुझे बोया;
फूल तुझमें खिले
तो आनंद तेरा है सुरभि भरना
गगन, वन, मन सभी में
बिना जाने यह
कि तू भरता सुरभि है,
अन्यथा जीवन नहीं जीता,
हिसाबी है,
अकवि है !

ओ अप्रस्तुत मन

भारतभूषण
अग्रवाल

गमन के क्षण
अब रुको मत, ओ अप्रस्तुत मन ।
चल दो !!

राह में लगी है आग
चलना है खेल नहीं
पर क्या सकोगे भाग
कर्म से बचोगे कहीं ?
बच्चों की भाँति यों मचलो मत, भीरु मन !
चल दो, कि आ पहुँचा है चलने का क्षण ।
चल दो—

क्षुद्र इस जी की यह कमजोरी कुचल दो,
दौड़ती इस धड़कन से पैरों में बल दो,
रुको मत, चल दो—

प्रात उठ देखा था :
हवा के झकझोरे से
पेड़ के पत्ते टूट, बिखर गए आँगन में
शाम तक पीले भी पड़ गए।

तुम भी अब चल पड़ो
झाड़ कर सुख के क्षण—
हवा रुकती नहीं, रुकोगे भला क्यों तुम ?
तुमसे ही खिलेंगे दूर, एक दिन नए कुसुम।
द्रुम से यह मोह क्यों, अबूझ मन ! चल दो—
चल दो, कि आ पहुँचा है, चलने का क्षण।

सहज स्वीकार

भूल मेरी थी, इसी से कर रहा हूँ, लो, सहज स्वीकार
इसमें लाज काहे की।

पर हँसो मत यों भरे विद्रूप।

इस क्षणिक जय में न भूलो शक्ति मेरी
जो अभी तक साथ है,
शक्ति है तो पैर सीधे भी पड़ेंगे एक दिन—
और उस दिन कहीं पछताना न पड़ जाये तुम्हें,
इसलिए तुम मत करो अपमान मेरा आज।

भूल का स्वीकार मुझको है सहज
क्योंकि मैं अब भी अडिग हूँ
क्योंकि अब भी आत्म-बल हारा नहीं हूँ
नैन मेरे सधे हैं अब भी भविष्योन्मुख।

स्वप्न मेरे थे असम्भव, भूल थी यह—मानता हूँ
किन्तु मत भूलो कि यद्यपि स्वप्न मेरे थे
मैं नहीं था स्वप्न का।

मुक्तक

सीढ़ियाँ चक्करदार,
थक गए पाँव,
मन गया हार,
जीवन बन गया तमाशा,
सूने गगन को छूने की नहीं मुझे अब अभिलाषा
मुझे दो धरती पर उतार,
सीढ़ियाँ चक्करदार ।

मनोहर श्याम जोशी

कलैंडर से बातचीत

आज सुबह उठ कर कलैंडर से मैंने पूछा,
"आज कौन सी तारीख है, क्या वार है?"
बोला, "दस जनवरी उन्नीस सौ चौवन,
आज इतवार है ।"
धन्यवाद दे उसे जाने लगा मैं
हाथ बढ़ा कर उसने रोका
हँस कर बोला,
"कहिए जनाब आप अब भी बेकार हैं?"
"हाँ ।", मैंने कहा, "अगर बेकारी नौकरी की
अनुपस्थिति है ।"
सुन कर वह हँसा, हँस कर बोला,
"हमारे कोष में तो बेकारी के अर्थ यही हैं
आपके में क्या स्थिति है?"
"बेकारी", मैंने उसे समझाया, "अपने अस्तित्व
की अभिव्यक्ति की अनुपस्थिति है ।"

विधुर बसन्त

मार्कण्डेय

बहुत दिन पर तुम्हारे पत्र को
फिर से पढ़ने की लालसा मन में
जाग उठी है,
मैं टेबुल का कोना कोना
ढूँढ़ चुका,
आलमारी के कागजों में
निगाह दौड़ा चुका,
बक्स के कपड़े की तहें बिगाड़ चुका,
पर वह नहीं मिलता :
ऐसा नहीं कि उसे मैंने खो दिया है,
बल्कि यह कि, वह कहीं
मेरे मन
और मेरी आँखों के बीच
उलझ गया है।

मन में तुम हो
और आँखों में, बसन्त की यह चाँदनी
जो मेरी खिड़की के बाहर
खड़े शहतूत की ओट से
निरन्तर झाँकती रहती है,
लेकिन मैं उसे नहीं देखता,
मैं तुम्हें देखता हूँ
मैं बसन्त को देखता हूँ
मैं अन्त को देखता हूँ।

असंगति

रमेन्द्र

रूप की रेखाएँ
सब बिखरी हैं
आकृतियाँ धुँधली हैं
अपनी ही धड़कन
बेचैनियाँ
पहचान नहीं पाता हूँ
गलियाँ चौराहे सब
पार किये जाता हूँ ।

खोल दो वातायन

खोल दो
यह बन्द वातायन
ताकि ताज़ी
शबनमी सौरभ भरी
प्राण-दायक
मिल सके तुमको हवा !
उमस गर्मी
विष भरे काले धुएँ से
रिक्त हो यह कक्ष,
तिमिर का पट चीर
किरणें आ सकें इस पार !
मुक्त श्वासों में
नयी फिर आस जागे,
हो सके अभिषिक्त जीवन
फिर नये विश्वास से !

दो कविताएँ

रवीन्द्र भ्रमर

१

इस पथरीले पथ पर
वर्षों तक चला हूँ,
हाँ ! चला हूँ;
सूरज की छाँव तले
बालू सा जला हूँ,
हाँ ! जला हूँ;
अब मुझको सहना क्या ?
जो अपने पर बीती—
गैरों से कहना क्या ?
वे आँसू गीत बने
जिनको पी, पला हूँ
सच, पला हूँ ।

२

सावन गरजे,
भादों बरसे,
भीगें ग्राम-नगर
वन-उपवन
प्यासी धरती का
मन हरसे ।
पर,
मैं कैसे जानूँ सावन,
भादों को कैसे पहचानूँ ?
तुम,
जो इनके अर्थ सदृश थे,
चले गये हो
मेरे घर से ।

मेरे सपने थक गये

राजेन्द्र
यादव

मेरे सपने थक गये
भटकती राहें आपस में उलझीं-उलझीं
जीवन भूल भुलैयाँ-सा रह गया
—कि छूटीं सारी सुधियाँ दूर
साध सब चूर
बुझा मन हारा-हारा पस्त
त्रस्त मजबूर !
तुम अपनी बाँहों की कोमल सीमाओं में घेर इन्हें
वासन्ती चुम्बन अंकित कर दो दीप्त मधुर
सच, ये बालक से लहरा जायेंगे खिल कर !

मेरा मानस
उड़ते हंसों की उज्ज्वल परछाईं के नीचे
मोती की फ़सल उगाता जो
अब केवल विशाल रेतीला सागर
करवटें बदलता रहता दो छोर
'सहारा' हँसता है !
तुम अपने भावुक नत शर्बती सजल—
नयनों में इन्द्रधनुष घोले
बस एक इशारा भर कर दो
शत-शत नखलिस्तान किलक कर अँगड़ाई लें !

सच, मैं बहुत अकेला
इन संघर्षों के काँतर-पंजों में बिंध कर
दिन रात छटपटाया करता हूँ !
जैसे मेरा उल्लास
जवानी की झरनों-सी निर्द्वन्द्व हँसी
मस्ती के सपने सतरंगी
भावों के जूड़ों में गुँथे-सजे गीतों के मुकुलित पारिजात
कल्पना के पायल की मदिर झनक
सब भीतर ही घुट-घुट कर सिसक रहे चुपचाप !

किसी केकड़े के पाशों में बँध गया विवश
जो बूँद-बूँद कर मुझे सोखता जाता है।
बाँहों में ताकत नहीं कि हिल तक सकें तनिक
यों जीवन का नवनीत रिस रहा शनैः-शनैः
संगीत चुप रहा शनैः-शनैः !

जो सीमाओं से उमँग-उमँग कर
सरिता-सा बह उठे, गा उठे
मैं उफ़ान था
सत्यवान था !
लेकिन सब 'सत' चुका
न पतझर रुका
भाग्य की शाखें झुक न सकीं !
फिर भी केवल एक अजाना मरता-सा विश्वास
कभी बल दे जाता झकझोर
किसी दिन सावित्री की ज्योतिर्मय साँसें
इस अंधकार के कुंजों में आलोक बिखेरेंगी आकर
मेरा अवसाद ओस बन कर चमकेगा !
मैं रक्षित हूँ एक सुगन्धित अलक जाल से
जो यह साँपों के जाल काट दे सकता है
स्नेह का सम्बल यम से भी लौटा लायेगा !

मौज

रामबहादुर
सिंह
'मुक्त'

आती नावों की पालें धुँधली हो जायें
कलमल ढलमल
लहरें
हम तब तक गिन डालें
मुट्ठी भर भर बालू लें
फिर गिर जाने दें
आ,
आज नदी तट पर हम ऐसे ही
बैठें !

???

आदर्शों का मैंने कभी न बाँधा बिल्ला
हार जीत को खेल मान कर जिया हिया भर
जीवन की इस खुली सड़क पर—मध्यम मारग—
हमराही से बढ़ जाने को आगे की है
आपाधापी—अटपट चला लटपटा—सँभला—
रौंदा—रौंदा गया—ललक कर हाथ बढ़ाया
क्लान्त श्रान्त को गले लगाया—मुझे हर समय
जीवन लिप्सा—आदिम संस्कृति—आगे आगे
रही चलाती—सहा बहा सब रहा नहीं कुछ
होने नाते—समझौते भी किए—कभारे
कभी किन्तु ईमान न बेचा—हर हालत में
आपा मुझको रहा बचाये "किधर, कहाँ रे,
कैसे, क्यों, क्या, ठहरो ?"—ठाठ उठ चले
तोष रहेगा—ज्यों की त्यों ना रखी चदरिया !

रात उगी

रामविलास शर्मा

काँस कुसुमों से मुलायम
नम, सुनहले बादलों की
बाँह में बेहोश—
होती जा रही है शाम

सद्य हाँके खेत के
हल्के हृदय से उठ रही
सौंधी, सुहानी गंध—
पवन की तर्जनी को थाम

पंखेरू पंख फैलाकर
हवा में डुबकियाँ लेते
तराने छेड़ माँझी—
चल पड़े ज्यों किश्तियाँ खेते

लगी बसने वीराने में
सितारों की नयी बस्ती
लहर की करधनी—
पहिने किनारे को चली कश्ती

परे कर मोतिया घूँघट
क्षितिज से चाँद ने झाँका
पवन ने लिख दिया—
लब पर लहर के चाँदनी का नाम
उगी रात, डूबी शाम।

एक मनस्थिति

रामावतार चेतन

जाने क्यों, उस दिन
कुछ ऐसा मन में आया
फूलों का एक बड़ा ढेर
घर पर लाया
फर्श पर बिखराया।
मन में था, कुचलूँगा
एक एक को
जूते के नीचे मल दूँगा।
जाने क्या आग थी,
ध्यान नहीं, फूलों से
ऐसी क्या लाग थी।
फूलों पर
एक घृणा भरी दृष्टि फेर कर,
आँखें तरेर कर
एक बड़ा क्रोध भरा
फूलों पर पैर धरा।
किन्तु,
यह क्या हुआ
किस पिशाच ने छुआ

पैर हिला, काँप गया
सारा तन हाँप गया
स्वेद से सना बेदम
पिछल गया एक कदम !
कुचले उन फूलों को
अंजलि में बाँध लिया
सीने पर साध लिया !

... ...
... ...

फूलों का दोष न था,
फूलों पर रोष न था !

चाँद यह दूज का

लक्ष्मीकान्त वर्मा

यह चाँद है दूज का
बना हुआ मूँज का—
पलरा जैसे सिर से झलक चमके
घूँघट का बार्डर जैसे मुख की आभा ले
हल्का हल्का चमके।
यह चाँद है हल्का
कड़ी रोटी का सूखा हुआ हाशिया
जैसे गया हो फेंका।

चाँद हो कुछ भी
जमता है वह नहीं
जमता है मूड महज
जब जैसा हुआ
वैसा लगा : सरपत का, काँसे का
आँटे का, पत्थर का
या कि संगमरमर का
चाँद यह दूज का !

पितृहीन ईश्वर : एक मेलोड्रामा

विजयदेव
नारायण
साही

कथाकार :

अंध शून्य को वेधित करता
एक क्षीण स्वर किसी बिगुल का
सूने जल में चमकीली मछली सा सहसा
तैर गया ।
वह महशर की रात, उठीं थीं जब आत्माएँ
डूबे मस्तक
खाली आँखें
हारे चेहरे
घायल सीने
बोझिल बाँहें
उतरे कन्धे
बना अँधेरा
स्तब्ध प्रतीक्षा ।

देवदूत :

ओ आत्माओ,
ओ आत्माओ,
खंडित करता हूँ मैं अपने शुभ्र मंत्र वे
खंडित करता हूँ मैं वे संदेश पुरातन!
खंडित करता हूँ मैं अपनी पावन आस्था,
ओ आत्माओ
देख लिया मैंने गिरि, सागर,
जंगल, नदियाँ, व्योम, मरुस्थल,
पिता नहीं हैं,
पिता नहीं है,
सचमुच कोई पिता नहीं है,
हम सब के सब सिर्फ अभागे, सिर्फ अभागे
क्योंकि हमारा पिता नहीं है ।

नीचे सागर तट पर जा कर
जिसके आगे राह नहीं है

अपनी आस्तिक छाती का सब ज़ोर लगा कर
मैंने पूछा :
'समय आ गया
राह देखती हैं आत्माएँ
पिता कहाँ हो ?'
नहीं मिला कोई भी उत्तर
पागल सागर
उसी तरह फूलता और फूटता रहा ।

उत्तर के ध्रुव की सीमा पर,
जिसके आगे अतल शून्य है,
अपनी पावन छाती का सब ज़ोर लगा कर
मैंने पूछा :
'पिता कहाँ हो ?'
नहीं मिला कोई भी उत्तर
मौन सितारे
उसी तरह ताकते और काँपते रहे ।

ऊँचे पर्वत की चोटी पर
जिसके आगे दूर दूर तक
बालू, बालू, केवल बालू—तथा मरुस्थल,
अपनी उज्ज्वल छाती का सब ज़ोर लगा कर
मैंने पूछा :
'पिता कहाँ हो ?'
नहीं मिला कोई भी उत्तर,
क्षुब्ध बवण्डर
उसी तरह नाचता और हाँफता रहा ।

पिता नहीं है !
पिता नहीं है !
पिता नहीं है !

आत्माएँ :

हम सब के सब

सिर्फ़ अभागे, सिर्फ़ अभागे, सिर्फ़ अभागे,
क्योंकि हमारा पिता नहीं है ।

नहीं किसी ने हमको सिरजा,
नहीं हमारा कोई ईश्वर,
नहीं हमारी कोई मंज़िल,
नहीं हमारी कोई सीमा ।

कौन हमारा न्याय करेगा ?
कौन हमारे पापों का प्रतिकार करेगा ?
कौन हमारे पुण्यों को स्वीकार करेगा ?
कौन हमारी साक्षी लेगा ?
हम सब के सब
सिर्फ़ अभागे, सिर्फ़ अभागे, सिर्फ़ अभागे ।

द्रोही आत्मा :

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?
बंजर मिट्टी ,
पंगु तरलता ,
झूठी ज्वाला ,
रुद्ध हवाएँ ,
सबके भीतर
खालीपन है
खालीपन है ।
सुनो नबी मैं तुम्हें चुनौती फिर देता हूँ ।

ज्योतित कुहरे से आलोकित
प्रथम बार जब तुमने झूठा ईश्वर देखा
मानव के घायल मस्तक की साक्षी देकर
मैंने अस्वीकार किया था ।

जीवित करता हूँ मैं वे अभियोग पुराने
भय : था तुमको अंधकार का,
लोभ : तुम्हें था सार्थकता का,
मोह : तुम्हें था आलम्बन का ।

नवी तुम्हारी कुण्ठाओं से निर्मित प्रभुता
केवल आत्मा की तेजाबी आभा थी, जो
जीती नहीं कलंकित होकर
मुर्दा परतों पर कुम्हलाया जहर छोड़ कर
कुछ दिन बाद उतर जाती है।

अंधकार के सूनेपन से हार मान कर
वैभव वाले इन्द्रजाल से
छायाओं की भीख माँगना
कायरता है।
पैरों की अस्थिरता से आतंकित होकर
दूर देश की मरीचिका में
गन्तव्यों के स्वप्न देखना
कायरता है।

अपने पौरुष की जिजीविषा से भय खा कर;
इतिहासों के नागपाश में
इष्टनियति के बादल रचना
कायरता है।

हाँ, मैं वहीं पुराना द्रोही
आज तुम्हारी व्यथित अनास्था की साक्षी दे
निरवलम्ब मानवता को आमंत्रित करता
तुम्हें चुनौती फिर देता हूँ;
पितृहीन होना ही केवल
यदि ईश्वरता का लक्षण है
तो हम सब के सब ईश्वर हैं।

कथाकार :

और रात को कब्रगाह में
हुई एक धड़कन सी पैदा;
ठण्डी कब्रों की ईंटों पर चोट मारती
आँधी आई।
नक्षत्रों के बन्धन टूटे
लचे सी उड़ गई धरित्री,

आसमान का नील चँदोवा
फूल फूल कर
पगलाये भेजे सा फट कर तार हो गया ।
एक विकट चीत्कार छोड़कर
दिशा काल का बहुत पुराना महल गिर गया ।

आत्माएँ :
जहाँ तुम्हारे ध्वस्त मन्दिरों के केतन थे
उससे ऊपर
फिर हम बुनियादें खोदेंगे
ढँक देंगे ये टूटे खँडहर
नई अस्थियाँ,
नई बस्तियाँ,
नई दिशाएँ,
नई वृत्तियाँ,
नई पिपासा,
नई प्रेरणा ।

ईश्वर हैं : हम सब ईश्वर हैं !
ईश्वर हैं : हम सब ईश्वर हैं !
ईश्वर हैं : हम सब ईश्वर हैं !

ओ सरोवर

विजय
शंकर
व्यास

ओ सरोवर !
हर प्यासे की प्यास बुझाना पुण्य कार्य है !
पूछ रहा हूँ एक बात पर
(और स्वार्थ से अलग नहीं हूँ)
क्या हर सागर नहीं चाहता—
कोई कर ले तीन
तीन क्यों एक
अंजलि में हृदयंगम
उसका सारा प्राण छोर से छोर तलक का ?
क्या अगस्त्य का इंतजार अस्वाभाविक है ?

पथिक चक्षु खोलो

विपिन
अग्रवाल

भार-बिन्दु को नीचे डुबाए
परों को कुछ झुकाए
बिना डुलाए
देखो, पक्षी उड़ रहा है
हवा से लड़ रहा है
उसे प्रयोगों में थकने दो
मुश्किलों को हल करने दो
वह अपने वृत्तों का स्रष्टा है।
थकी साँझ देखो
शांत क्षितिज पर
रवि के अंतिम किरणांचल को
तर्जनियों में उलझाए है
यह कालचक्र ने
अभिसार रचा है
दोनों को रति में क्षय हो जाने दो
यही अंत रंगों का सृजन करता है।
व्यथा से भरी
रमणगमना को देखो
असहाय अंगों को ढीला कर
अनन्त प्रतीक्षा के
रतिबंधन में पड़ी है
इसे कुछ गुनगुनाने दो
इन अधरों से निकला स्वर ही
संगीत में भावों को रचता है।
पथिक जागरूक हो लो !

गुज़रती हुई हवाओ

वीरेन्द्र
कुमार
जैन

ओरी ओ गुज़रती हुई हवाओ,
लाओ, तुम्हीं पर आज ख़त लिख दें !
क्योंकि हरफ़, काग़ज़ और डाक,
ये सब तो क़ायल हैं वक़्त के;
मगर हम आज वक़्त में नहीं हैं !
वक़्त बदल देता है चीज़ों को,
देह, मन, प्राण, आत्मा तक को।
वक़्त दूरी है,
वह ग़लतफ़हमी का बाज़ीगर है :
अक्षर से शब्द बनने तक में ही
बात बिगड़ जाती है।
वह ख़तरा उठाने लायक़
आज हमारे मन-प्राण की हालत नहीं है।
क्योंकि हम आज वक़्त में नहीं हैं !
क्योंकि हम आज
धरती और आसमान के बीच
किसी एक जगह पर क़ायम नहीं हैं।
मानों कि सब जगह होने को
बेचैन हो कर भी
हम आज कहीं पर नहीं हैं, किसी के नहीं हैं।

उन्हें अगर हमारे साथ रहना मंज़ूर नहीं है।
तो हमें हस्ती का होना मंज़ूर नहीं है।
इस घड़ी इस क़दर बेचैनी है,
कि हरफ़ों में काग़ज़ पर यह लिख कर
डाक से उन तक पहुँचाने की देर
सहना हमको मंज़ूर नहीं है।

इसीसे कहता हूँ कि
ओरी ओ गुज़रती हुई हवाओ,
लाओ, तुम्हीं पर आज ख़त लिख दें।
... मगर क्या लिक्खें,

अपने होने के अहसास से ही
आज जब महेरूम हम !
आओ, एक साँस में ही
हो जायें शेष तुम्हारे भीतर हम :
कि हमारी बेताबी से हो कर परेशान
तुम बींध जाओ वक्त के आरपार,
हर हर सत्ता का अन्तर अनिर्वार।

और जब उनकी मानिनी चितवन पर झूलती
लापरवाह केश-लट को अनायास
छुहला कर तुम गुज़र जाओ :
तो अपने अहं की कुण्डलिनी शैया से
जाग कर नज़रें जब उठायें—
तो पायें वे :
कि उनकी हर साँस में पैंग हमीं भरते हैं,
उनकी निगाहों के आख़िरी क्षितिज हैं हम,
उनकी हर बुलन्दी के हमीं एक आसमान ;
हर रात उनकी गर्वीली तनहाइयों में
रातरानी की दर्दभरी खुशबू बन छाये हम।

मगर तब वे हमारी तलाश में
भले घूम जायें दुनिया तमाम ;
उन्हें मिलेगा नहीं यहाँ,
हमारी हस्ती कोई अलग नाम, पता या मुक़ाम !

ओरी ओ गुज़रती हुई हवाओ,
लाओ, तुम्हारे ही कान में कह कर
पहुँचा दें आज उन तक
अपना यह आख़िरी पैग़ाम !

साँझ

वीरेन्द्र
कुमार
ठाकुर

भरमे, भटकाए, भरपाए
पीठ फेर मुड़ चले पथिक सा
ऊबा ऊबा, सूरज डूबा !
अंधे सा जग को टटोलता,
धीरे धीरे बढ़ा अँधेरा,
देने लगी उदासी फेरा।
उन्मन सी हो चलीं दिशाएँ
विष की सनी, तीर सी तीखी
सरसर करती चली हवाएँ,
फरफर करते पंख खगों के सहम
नीड़ में सिमट सो गए,
मरमर कर तरु मौन हो गए।
धड़क उठी विस्मृति की छाती,
जगीं हृदय में, भूली बिसरी
सुख-कथाएँ, मर्म-व्यथाएँ।
गृहणी के आँचल में दबके
चुपके चुपके दीप जल चले,
बड़ी बड़ी आकुल आखों में,
बड़े मनचले स्वप्न पल चले,
हाट-बाट में, गली घाट में,
तरल ओस के बूँद ढल चले,
भीग चलीं छत औ छतनारें, महल अटारी,
भीग चली मेंहदी की क्यारी,
भीगे तरु, नम हुईं पत्तियाँ,
चौराहे की जलीं बत्तियाँ,
धीमी धीमी, फीकी फीकी।
निशा भाल से, अलक-जाल से
टूट गिरा हो जैसे टीका,
दूर क्षितिज में
चाँद उग रहा, पीला पीला,
फीका फीका।

आठ पंक्तियाँ

वीरेन्द्र कृष्ण माथुर

प्यार का रिश्ता जुटाया
और उसको तोड़ डाला
मानता हूँ :
शेष बाकी मधुर यादें
क्या करूँ उनका
कि जो चिपटी हुई हैं जोंक सी—
क्यों नहीं हम फिर मिलें
और उनको भुला देने की कोई तरकीब ढूँढ़ें ?

नक्शा

शकुन्त माथुर

१

घुटन तो सह्य है
तसवीर के अंक भी महीन,
छिपा लूँगी।
किंतु
घन घुटन में बिजली
यह आह !
नक्शा होगी
ज्वाला-मुखी ज़मीन का
इसी से तो भय है।

२

आघात
प्रतिघात
चोट
विस्फोट
विषाद
वक्त ऐसा ही
कहीं कुछ नहीं कैसा ही
वर्तमान, विगत, भविष्यत, सब
मन जैसा हा।

३

आकाश पर बदली
भारी बादल
हल्के बादल
घिर रहे वर्षा आएगी
बादल खुलेंगे
बादल हटेंगे
धूप दिव्य छाएगी
पर ये भी तो संभव है
बादल घिरे ही रहें
बरसें ही नहीं कभी ।

चील

श्याममोहन श्रीवास्तव

चील :
मँडराती हुई नभ में
कुछ नीचे को उतर गई
फिर से मँडराई
फिर झुकी और नीचे को
शायद कुछ अस्थि, मांस करने को ग्रहण विवृत
उसकी यह तीक्ष्ण चंचु !

युग-युग से प्रेत-सदृश
भ्रमित अभिशप्त चील,
हिंसाकुल क्षुधा-त्रस्त
घूर्णित अभिशप्त चील,
—जाने कब शापमुक्त
होगी अभिशप्त चील !

शीर्षकहीन

श्रीकान्त वर्मा

लाखों लोग, लाखों शक्लें,
नाम नहीं ।
सड़कों पर डोल रहे
काम नहीं ।
सब शीर्षकहीन ··।
मैं शीर्षकहीन
तुम शीर्षकहीन
लाखों लोग, लाखो शक्लें
सब शीर्षकहीन !

अनपढ़ी कविताएँ ।
सड़कों पर घूम रहे
आवारा भाव ।
दफ्तर दफ्तर फिरते
अँतड़ी के गीत ।
पथ पर धब्बों-से
हम
आत्मा के गीत ।
बिखरे हुए
हम सब
आकांक्षा के छंद ।
सब शीर्षकहीन···हम सब शीर्षकहीन ।

हमें शीर्षक दो ।
ताकि हम प्रत्येक शब्द
प्रति अक्षर सार्थक हों ।
डिग्रियाँ हमारी वापिस ले लो, शीर्षक दो ।
··· ··· ···

मगर नहीं···!
तुम तो
कृतिकार नहीं ।

क्रतियों के खरीदार,
कृतियों के दुश्मन हो।
... ...
हम सब के दुश्मन हो।

ठहरो हम आते हैं।
हम कबीर की बानी
लुकाठियाँ शीर्षक हैं।
झाँको मत
द्वारों से,
खिड़कियों, झरोखों से।
हम सब एकत्रित हैं।
हम क्रतियाँ मात्र नहीं
अपने निर्माता हैं।
शीर्षकों के विधाता हैं।

हम लाखों लोग!
लाखों शक्लें।
अनपढ़ी कविताएँ।
सब शीर्षकहीन।
... ...

अलार्म

श्रीहरि

घड़ी बज उठी,
सूनेपन का हृदय हिल उठा,
जाग गयी मैं—
टूट रहा तन,
बिखर रहा मन,
इस थकान को बिस्तर दूर नहीं कर पाया,
अंग-अंग की ऐंठन अँगड़ाई न ले सकी,
घड़ी बज उठी,
जैसे कोई रेल निकल जाये ऊपर से।

जो भी हो, यह पापा का आदेश
नहीं टाला जा सकता—
पढ़ना, पढ़ना, केवल पढ़ना,
क्योंकि परीक्षाएँ देनी हैं,
सोलह की हो गयी, भला अब कब चेतूँगी—
कह कर पापा रोज़ अलार्म लगा देते थे।
मैं बाहर के लिए तरस कर रह जाती थी,
कमरे में ही सीमित रहने का
उपदेश दिया जाता था,
उपवन में जाना वर्जित था,
फूलों और तितलियों में आत्मा रमती थी,
लेकिन दीवारों में तन था।
सोलह क्या, बत्तीस वसन्तों को
गुज़ार कर बैठ गयी हूँ,
अब भी रोज़ अलार्म लगाया जाता,
घड़ी बजा करती है,
टूट-टूट कर बिखर-बिखर जाती हूँ अब भी,
रोज़ परीक्षाएँ होती हैं,
जाने कितनी और परीक्षाएँ देनी हैं।
फ़र्क़ एक है—
तब अलार्म पापा देते थे,
अब अलार्म मैं अपने आप लगा देती हूँ
हर सोने के पहले हर खोने के पहले,
चाहे अनचाहे जैसे भी हो,
यह होता ही जाता है।

दो पग

सत्यकाम
विद्यालंकार

दूर थे जो दो चरण हम और तुम
आज भी हैं दूर बस दो ही चरण !
दो चरण मैं और बस दो चरण तुम
मात्र दो ही चरण का व्यवधान यह
आज तक भी तो न पूरा हो सका
दो निमिष का अल्प सा अभियान यह।
स्वप्न बोझिल हृदय के ही भार से
उठ न पाया एक पग मेरा विवश !
किन्तु तुझको क्या हुआ जो आज तक
तू वहाँ बैठा रहा संकोचवश ?
आज भी दूरी वही है···दो चरण !

स्पर्शदान

सत्येन्द्र
श्रीवास्तव

यदि यह स्पर्श कभी
जीवन की दिशा दिशा बाँधे
संचित कर दे
टूटी रचनाओं पर
पावन सपने साधे
दुख से
वंचित कर दे
नस नस में दौड़े
औ डग डग में शक्ति भरे
श्रम के कल्मष लाँघे
पथ को
किंचित कर दे—
समझो
कृतित्व को
रूप रंग अंक मिला
कर्म के समर्पण को संस्कार
पंकज की आस्था को पंक मिला।

वस्तुस्थिति

भीतर हम रिक्त
बाहर हम रिक्त
किन्तु क्षणिक आवेशों से
जीवन तिक्त
यह सब वरदान रूप प्रभु से मिला है
माथे पर बोझ
घुटनों तक बोझ
श्लथ बाहें, नत मस्तक
वाणी में ओज
झूठे बहलावों का एक सिलसिला है
तुमसे भी प्रीत
उनसे भी प्रीत
अन्दर सब बंजर है
ओठों पर गीत
अनायास हर से शिकायत है, गिला है

खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

आओ दोस्त
जलती दोपहरों में
चौराहे पर खड़े होकर चिल्लाएँ—
"लाए हैं हम
खाली जेबें
पागल कुत्ते
और बासी कविताएँ।"

खस की टट्टियों में आग लगा दें,
बर्फ की गाड़ियाँ सड़कों पर उलट दें,
कोल्डड्रिन्क्स, आइसक्रीम,

रेफ़रीजरेटर, थरमस, फैन्स,
ठंडे सुगन्धित बिस्तरे,
तहख़ानों और बन्द कमरों से निकाल कर
गलियों में फेंक दें
ढेले मार कर
हर कार वाले को रोकें,
गरदन पकड़ कर उसकी जोर से हिलाएँ,
उसकी हर चीख पर
पुचकारें, खिलखिलाएँ,
उसका भारी पर्स
जेब से निकाल कर
उसके क्लीन शेव्ड गालों पर दे मारें,
सर के चिकने ठंडे बाल पकड़ कर
आहिस्ता से महज इतना समझाएँ—
"कि हम भी रईस थे—
फ़र्क इतना ही था
कि छल और फरेब की
झूठे हिसाब किताब की
हमने इल्लत नहीं पाली थी,
इसीलिए तुमसे अपनी जेब कटवा ली थी,
और अब हमारे लिये
हर तरफ़ दिवाली है,
क्योंकि जेब खाली है,
चाँदनी, धूप
सब हमारे लिए एक हैं,
सड़क की तपती
ये पटरियाँ गीत हैं
हम सब जिसकी टेक हैं
झुकी हुई, हाँफती ठेले खींचती सी
ये जलती दोपहरें
हमें ही दोहराती हैं,
हमारे गीत गाती हैं,

हमारी फटी जेबों के
झंडे उठाती हैं,
नारे लगाती हैं।

आओ दोस्त !
जलती दोपहरों में
चौराहे पर खड़े होकर चिल्लाएँ,
खाली जेबों की कुछ करामात दिखलाएँ।

२

होटलों, सिनेमा, क्लबों रेस्ट्राँघरों में
अपने ये पागल कुत्ते छोड़ें,
ताकि ये,
लिपस्टिक लगे हुए विकृत चेहरे
देख कर भौंकें,
...झबरे अधकटे बाल,
खुले अंग, तेज चाल,
फूलदार गहरे रंग वाले कपड़े,
चेहरे से पाउडर के छूटते हुए पपड़े,
हल्के, सतरंगे छाते,
धूप के चश्में तले
फूलों के मकबरे आते जाते,
...देखें,
और उन पर झपटें,
ताकि वे
चीखें, चिल्लाएँ
नकली छाते, चश्मे,
रूज़, लिपस्टिक, शीशे वाले हैंडबेग,
नकली बाल, नेल पालिश,
चुस्त सिल्केन ब्रेसियर्स के पैकेट
फेंक फेंक उन्हें मारें
और गलियों में घुस जायें,
दाएँ, बाएँ,

ऊपरी तड़क भड़क के
ये कफ़न फाड़ कर
अन्तर के सौन्दर्य की लाश देखें,
उस पर आँसू बहाएँ
सच्चे प्यार को समझें,
क्षणिक, उत्तेजक वासनाओं के नाम पर
सर पटकें,
हाथ मलें, पछताएँ।
आओ दोस्त!
ढलती दोपहरी में
चौराहों पर खड़े होकर चिल्लाएँ
पागल कुत्तों का कुछ जादू दिखलाएँ।

३

सड़क के किनारे पड़ी बेंचों पर
बैठ कर गाएँ,
एक प्याली चाय पर
कला और साहित्य का मापदंड बदलें;
हँसे, ठहाके मारें,
मरियल बुद्धि ले अखाड़े में उतरें;
पैतरे बदलें, चाल चलें,
बिल दे, हाथ मलें;
मुट्ठी बंद कर के
सब की औक़ात देखें,
बैरे की टिप उधार करें;
रेडियो, अखबार
किताबों की दुकान झाँकें,
नए पुराने सभी लेखकों की सूची
याद करें,
जीवन को समझें कम
ज्यादा समझाएँ;
संघर्षों के हर हमले से भागें

सपनों के किले में
भाग कर छिपें;
बासी कविताओं की तोपें लगायें,
आज के समाज और जीवन की विकृतियों से
काठ की तलवारें लेकर लड़ें,
जिसे नहीं जानते
उसको गाली दें,
कला के नाम पर
बाज़ारों में घूमें,
अपनी टूटी हुई
बौखलाई परछाई चूमें,

आओ दोस्त !
बुझती दोपहरों में चौराहों पर खड़े होकर चिल्लाएँ,
बासी कविताओं का करिश्मा दिखलाएँ।

बुरा मत मानिए,
अपनी तरह ही आप हमको भी जानिए,
हाथ की सफाई वाले बाजीगर
नहीं हैं हम
आदमी सच्चे हैं,
हममें आपमें फर्क इतना ही है,
कि जिनके सहारे लहरों से लड़ रहे हैं हम
वे घड़े कच्चे हैं,
फिर भी हमारा अटल विश्वास है
कि खाली जेबें
सोने की तिजोरियों पर
कफ़न बन जायँगी,
पागल कुत्ते
पास नहीं आने देंगे
खोखली सभ्यता को
थोथी बनावट को;
बासी कविताएँ

कलाकार का झूठा दम्भ मिटा देंगी,
दुनिया के प्रगति पथ पर
सूखे हुए ठूँठ से
युग निर्माता, कवि, कलाकार,
सर झुकाए पथराए,
ईंधन बनने की प्रतीक्षा में,
खड़े होंगे।

आदमी को आदमी बनाएँगे हम
खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ लेकर
नक्शा बदल देंगे आज के ज़माने का
...आप का ही नक्शा यह
आप को चौंकाता है?
दोष इसमें भला किसका
जो दम्भी कुरूप बौना दर्पण फोड़ जाता है?

आओ दोस्त!
चौराहे पर खड़े होकर चिल्लाएँ,—
'लाए हैं हम
खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कविताएँ।'

सरिता

सविता बनर्जी

मैं पर्वत से चली,
जा मिलूँगी पयोधि से,
क्यों, कैसे, किसलिए,
स्वयं भी नहीं जानती।
इतना है मालूम कि बहते ही जाना है
अवनी की गोदी में;
अम्बर की छाया में,
दो कूलों में बँध कर,
जिनसे मेरी लहरों का नाता है।
सूख चलूँ वैशाख-जेठ में,

या सावन-भादों में ये सीमाएँ तोड़ूँ,
या रवि, शशि, उडुगन का दर्पण बनकर
सौ सुख-सपने देखूँ,
इन तीनों स्थितियों में अन्तर बहुत नहीं है,
क्योंकि ये सभी—
काफी सच होकर भी
मेरा पूर्ण सत्य हो नहीं सके हैं।
बिना रुके चलते ही जाना,
दोनों कूलों को बाहों में भर, भू को उर्वरता देना
मेरा सब से बड़ा सत्य है।

आवाहन

सुमित्रा नंदन पंत

स्वप्नों के रथ में आओ!
मधु भृङ्गों का स्वर्ण गुंजरण
प्राणों में भर जाओ!
अंतर का क्षण क्रंदन हो लय
तुममें रुद्ध अहंता तन्मय,
मेघों के घन गुंठन से हँस
रश्मि तीर बरसाओ!
जगे हृदय में सोया मानव
जगे पुरातन में खोया नव,
शत मरुतों का विद्युत् दंशन
तन मन में भर जाओ!
हे अकूल, हे निस्तल, दुस्तर,
हे स्वर्णिम बाड़व के सागर,
नव ज्वालाओं की लहरों में
उर को अतल डुबाओ!

दीवार

संजय

हम सब की ज़िन्दगी
किसी टूटे हुए खँडहर की पुरानी दीवार है
किसी चलती सड़क के किनारे ख़ामोश खड़ी—
जिस पर हर रंग के पुराने पोस्टरों की
पर्तों पर पर्तें जमती चली जाती हैं
बची हुई जगहों में झूठी दवाओं के
घिनौने विज्ञापन हैं
गेरू से लिखी हुई
अश्लील बेमतलब गालियाँ हैं

हम सब की ज़िन्दगी उस टूटे हुए खँडहर की
पुरानी दीवार है

हम उसके मालिक हैं !
खँडहर के बावजूद अपने को जायदाद वाला
कहलाने में कितना सुख पाते हैं ।
हम सबका दर्द वह कर है
जो पुरानी हैसियत निभाने के लिये
हमको अब भी देते जाना पड़ता है ।
हम सब की कला
वह गंदी राह चलती भिखारिन है
जो दिन डूबे—
चारों तरफ़ से दुतकारी जा कर
रोटी की या तन की भूख झुठलाती है
इसी दीवार की ओट में !

नया जन्म

निर्झर की शत धाराओं में
बिखर गया संचय चेतन का ।
गंध बही निर्बंध
समय की बँधी ग्रंथियाँ सभी खुल गईं ।
धन्य हो गया नव अरुणोदय
मग्न हो गया श्वास स्पर्श से
जंगल का पत्ता पत्ता ।
मंजुलता के चरणों में नत
नव वसंत संध्या निशि वैभव
वर्षातप हेमन्त शिशिर शत ।
तृप्ति हुई साकार रंग की
नव उमंग के मृदु चरणों में
भव विभूति की भव्य भंगिमा
दर्पाहत नत ।
अन्तरंग की पूत कल्पना
चिर अनंत की
दिव्य भावना वन विहंग की
सतत साधना दिग् दिगंत की
नये जन्म से सफल हो गईं ।
मूर्तिमन्त चैतन्य विश्व में खिली प्रगति की सत्ता ।

हरि
नारायण
व्यास

न छूटेगा

न छूटेगा !
लुटेगी हर सुबह
लबरेज़ कलियों की मदिर झलकन
मिटेगी रात में
हर राज़ की बढ़ती हुई धड़कन
मगर
बेहोश आलम में

हरिमोहन

गुलाबों पर पड़ा जो भाव का अंकन
न छूटेगा।
बहुत मुमकिन
बदलियों की जरा सी थपकियाँ पाकर
हमारा चाँद घबराए
न कम मुमकिन
कि पहले पहल ऐसी हरकतों से प्यार डर जाए
मगर कँपती उँगलियों में थमा सुनसान का दामन
न छूटेगा, न छूटेगा।

काव्य-सृजन :
अन्तःप्रेरणा और पलायन

डा० धर्मवीर भारती

कलाकृति, चाहे वह शब्दों में हो या संगीतात्मक ध्वनियों में, चाहे रंगों और रेखाओं में हो या स्थापन में...किन्तु उससे कलाकार के अन्तर्जगत का निकटतम सम्बन्ध रहता है। प्रत्येक कविता, या चित्र, या गीत का उद्‌गम कलाकार के मानस से होता है इसमें कोई सन्देह नहीं है। वे, जो कला को या तो दैवी शक्तियों या सामाजिक शक्तियों द्वारा उद्‌भूत मानते रहे हैं, वे भी इतना तो मानते ही हैं कि ये शक्तियाँ भी मनुष्य के अन्तर्जगत में संस्कार या अवतरण, या अन्य किसी रूप में पहले प्रतिष्ठित होती हैं और तभी आपकी रचनाप्रक्रिया को प्रभावित कर पाती हैं और कलाकार के अन्तर्जगत में घटित होने वाली इस रचना प्रक्रिया का मूल अन्तःप्रेरणा है। जब तक कलाकार में अन्तःप्रेरणा नहीं जागती तब तक वह सजीव कलाकृति नहीं प्रस्तुत कर पाता।

इस अन्तःप्रेरणा का मूल स्रोत और प्रकृति इतनी जटिल और गूढ़ है कि आदिकाल से अधिकांश विचारक इसके विश्लेषण से बचते ही आये हैं। आदिकाल और मध्यकाल में समस्त कला समीक्षा अन्ततोगत्वा इस अन्तःप्रेरणा को मानवोपरि दैवी स्तरों से सम्बद्ध कर देती थी। सरस्वती, या कोई भी अन्य बुद्धि या कला का देवता मनुष्यों के हृदय में अपनी एक किरण प्रेरणा के रूप से उद्भासित कर देता है और उस समय सृजनकर्ता कलाकार मात्र माध्यम रह जाता है, शैवों की यह कल्पना कि समस्त शब्द और ध्वनियाँ अन्ततोगत्वा शिव के डमरू से उत्पन्न हुई हैं, तान्त्रिकों की यह कल्पना कि समस्त अक्षर बीजाक्षर हैं, और दैवी शक्तियों से सम्पन्न हैं, वैष्णवों की यह कल्पना कि प्रभु की लीला का गायन करने वाला प्रत्येक कवि किसी न किसी अंश में उनकी बंशी का अवतार है जिसमें फूँक या अन्तःप्रेरणा दैवी शक्ति से जाग्रत होती है...यहाँ तक कि जयदेव का अधूरा श्लोक स्वतः कृष्ण आ कर पूरा कर देते हैं...ये सारी कल्पनायें इसी एक मूल तत्त्व पर आधारित हैं कि कलाकृति की प्रबलतम अन्तःप्रेरणा जो अधिकतर मनुष्य की सचेतन मानसिक शक्तियों या वातावरण का अतिक्रमण कर जाती है......उसका ठीक ठीक निदान मध्यकालीन चिन्तक मानवीय मनोविज्ञान में नहीं खोज पाते हैं। वर्तमान युग में किसी न किसी रूप में यह विचारधारा वर्तमान है। अरविन्द ने अपने एक पत्र में कहा है..."कवि का उच्चतम या सर्वाधिक मुक्त क्षणों में, वह अपने बाह्य सचेत मानस द्वारा नहीं लिखता, वरन अन्तःप्रेरणा से देवताओं के प्रवक्ता की भाँति लिखता है।"

दैवी प्रेरणा की बात सर्वमान्य नहीं है, किन्तु इतना तो स्वतः कलाकारों की साक्षी से ज्ञात है कि उनकी अन्तःप्रेरणा मन के सचेत स्तरों की अपेक्षा उसके अवचेतन या अर्द्धचेतन स्तरों पर जाग्रत होती है। अक्सर वे अपने व्यावहारिक दैनिक जीवन के किसी अत्यन्त शुष्क नीरस व्यापार में संलग्न रहते हैं पर उनके मन के गहन स्तरों में कुछ और ही घटित होता रहता है, और जब उसका विस्फोट होता है तब उनका सचेत मानस विवश हो जाता है, उसके हाथ से जैसे भाव प्रक्रिया के सूत्र छूट जाते हैं और जैसे स्वतः प्रेरित कलाकृति उनकी समस्त कल्पना, बुद्धि, ज्ञान को सहायक उपादान बना कर अपने को अभिव्यक्त कर डालती है और उस समय कलाकार का बाह्य व्यक्तित्व इतना विवश हो जाता है कि जैसा डी. एच. लारेन्स ने अपनी कृतियों के बारे में कहा...'घटनाओं की तरह वृत्ति भी घटित हो जाती है और मैं खड़ा देखता रह जाता हूँ।'

वर्तमान काल में जो विशिष्ट विचारधाराएँ विकसित हुईं, जिन्होंने कला की प्रकृति को व्यापक पृष्ठभूमि में समझने का प्रयास किया और जिनसे आधुनिक कला समीक्षा सबसे अधिक प्रभावित हुई उनमें मार्क्सवाद और फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धान्त सर्वप्रमुख हैं। मार्क्स ने कलाकार की समाज सापेक्ष स्थिति का और कलाकृति की सामाजिक उपयोगिता पर अधिक ध्यान दिया और अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इस ओर विशेष संकेत किया कि कला सृजन सामाजिक शक्तियों से प्रभावित होता है। किन्तु अन्ततोगत्वा वह सृजन व्यक्ति के द्वारा होता है, उसके जटिल, गहन, अनेक स्तरों वाले अन्तर्जगत से उद्भूत होता है...यदि वह व्यक्ति और उसका वह जटिल अन्तर्जगत न हो तो सृष्टि के आदि से ले कर आज तक की समस्त सामाजिक शक्तियाँ और राजसत्ताएँ महान कविता की एक भी पंक्ति, या एक भी सप्राण या सजीव चित्र नहीं रच सकती थीं। समस्त मार्क्सीय कला समीक्षा का विकास इसी कारण एकांगी होता गया और कलाकार की अन्तःप्रेरणा और उसकी जटिल प्रकृति न समझ पाने के कारण उसके निर्णय अधिकतर मिथ्या या सतही सिद्ध होते रहे। काउवेल एक मात्र ऐसा समीक्षक था जिसने काव्य सृजन की प्रकृति को गहराई से समझने का प्रयास किया और उस दिशा में जब केवल सामाजिक शक्तियाँ अन्तःप्रेरणा की व्याख्या नहीं कर पाईं तब उसे नैसर्गिक प्रवृत्तियों या Instincts के सिद्धान्त का आश्रय लेना पड़ा। आज मार्क्सीय शिविर में ही काउवेल के सिद्धान्तों को इसी कारण मार्क्स विरोधी कहा जाने लगा है और मारिस कार्नफोर्थ के नेतृत्व में नये ब्रिटिश मार्क्सवादी विचारकों ने काउवेल की तीव्रतम आलोचना की है। वे मानते हैं कि काउवेल फ्रायड का विरोध करते करते उसी के सिद्धान्तों को संशोधित रूप में अपना लेता है।

जहाँ तक फ्रायड का प्रश्न है कला सृजन के सम्बन्ध में उसकी मान्यताएँ भी एकांगी सिद्ध हो चुकी हैं। उसने यह माना था कि मनुष्य का अवचेतन जगत उसकी दमित इच्छाओं का सुरक्षित कोष है जहाँ से वे अज्ञात रूप में, छिप कर मनुष्य के समस्त व्यवहारों को, उसके सृजन को प्रभावित करती हैं। उसने अपने उसी सिद्धान्त पर मनुष्य के स्वप्नों की नई व्याख्या देने का प्रयास किया और कविता या चित्र को मनुष्य की स्वप्न प्रवृत्ति का ही एक प्रक्षेपण माना। साथ ही उसने अन्तर्जगत में दमित आकांक्षाओं के कारण बनी हुई ग्रन्थियों से कलाकार की अन्तःप्रेरणा का सम्बन्ध जोड़ा और कल्पना शक्ति के द्वारा अन्तर्जगत किस प्रकार भावनाओं की अभिव्यक्ति ऐसे नये प्रतीकों

द्वारा करता है जो मूल दमित वासनाओं से सम्बद्ध रूपाकृतियों को व्यंजित भी करते हैं और छिपाते भी हैं इसका एक विस्तृत विवेचन भी प्रस्तुत किया। किन्तु उसने मूलतया लेखक या कलाकार को एक रुग्ण मानव वाला व्यक्तित्व माना और अपने चिकित्सालय में आने वाले अन्य रोगियों की भाँति उनका भी विश्लेषण किया। निःसन्देह यह एक कला रसिक का दृष्टिकोण नहीं था। इसी कारण उस विश्लेषण में भी कला की अन्तःप्रेरणा की व्याख्या कई दिशाओं में वैसी ही एकांगी हो गई जैसी मार्क्स की व्याख्या। फ्रायड यह भूल गया कि रुग्ण मानव वाला एक कलाकार भी कला सृजन के क्षणों में एक दूसरा व्यक्ति हो जाता है। वैसे फ्रायड को भी अक्सर यह आभास होता रहा है कि अन्तःप्रेरणा और उसके स्रोत के विषय में उसका सिद्धान्त कभी कभी महानतम कलाकृतियों के विश्लेषण में पूर्णतया सफल नहीं सिद्ध हुआ है। डास्टावस्की पर लिखे गये अपने निबन्ध में उसने इसे स्वीकार भी किया है।

आधुनिक मनस्तत्त्व वेत्ता सी० जी० युंग ने फ्रायड के इस सिद्धान्त की असंगति का तर्कपूर्ण विवेचन किया है। उनका यह कथन है कि फ्रायड की सारी स्थापनायें कलाकार के व्यक्तित्व पर लागू हो सकती हैं किन्तु उसका कला व्यक्तित्व सर्वथा वही नहीं होता। साथ ही फ्रायड की मनोविश्लेषण पद्धति व्यक्ति के मनस्तत्व पर लागू हो सकती है किन्तु जो कलाकृति उससे उद्भूत होती है वह अपने में एक स्वतन्त्र वस्तु होती है...युंग यह भी मानता है कि उस कलाकृति की सफलता और महानता ही इस पर आधारित होती है कि वह कृति कहाँ तक अपने सृजन कर्ता में निजी जीवन की सीमाओं और परिधियों का अतिक्रमण कर गई है। ऐसी दशा में वह कलाकार के द्विविध रूप मानता है। एक में वह एक साधारण मनुष्य होता है जिसके निजी सुख दुख, कुण्ठायें आकांक्षाएँ हो सकती हैं, दूसरे रूप में वह एक निर्वैयक्तिक रचना प्रक्रिया का विधायक मात्र होता है। युंग का यह मत साधारणीकरण के भारतीय सिद्धान्त के कितना निकट आ जाता है, इसकी विवेचना अत्यन्त रोचक हो सकती है। युंग तो कला के इस स्तर पर निर्वैयक्तिकता का इतना प्रबल समर्थक है कि वह कहता है..."कला का सृजन करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति नहीं होता जो अपनी इच्छानुसार कला का उपयोग अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये करता है, बल्कि वह कला के आशयों का साक्षात्कार अपने माध्यम से होने देता है।"

आप यह पूछ सकते हैं कि क्या आप तर्क करते करते एक गोल चक्कर में नहीं घूम गये। शायद यह बात सच है। हमने प्रारंभ में ही माना कि

अन्तःप्रेरणा कलाकार के सचेतन व्यक्तित्व के वश में नहीं है, पर वह दैवी शक्ति से उद्भूत है यह एक अवैज्ञानिक मत है पर मानवीय मनोविज्ञान के शास्त्रज्ञ भी अन्ततोगत्वा इसी मत पर पहुँचते हैं कि यह कला की अन्तःप्रेरणा उसके निजी वैयक्तिक सचेत भाव प्रक्रिया की सीमा के बाहर की वस्तु है। तो प्रश्न फिर उठता है कि क्या वह किसी मानवोपरि दैवी शक्ति या रहस्यमय अज्ञात प्रक्रिया का अंग है...इस विषय में मैं एक अत्यन्त प्रख्यात आधुनिक फ्रांसीसी कलाकार जाँ काक्त्यो (Jean Cacteau) का एक वक्तव्य देना चाहूँगा... वह कहता है...

"कभी कभी लोग कला की अन्तःप्रेरणा के बारे में सर्वथा भ्रान्त धारणा बना लेते हैं लगभग धार्मिक विश्वासों की सी। किन्तु मैं यह नहीं मानता कि कला की अन्तःप्रेरणा हमें आकाश से मिलती है। मैं समझता हूँ कि हममें एक उपेक्षा या असमर्थता की भावना होती है जिसके कारण हम अपने अन्तर्जगत की कुछ शक्तियों को उपयोग में नहीं ला पाते। ये अज्ञात शक्तियाँ, हमारे दैनिक जीवन के तत्त्वों, उसके परिवेश और संवेगों से संयुक्त हो कर अन्तस्तल के गहन स्तरों में कार्य करती हैं और हम उनके भार से आक्रांत हो उठते हैं और तब वे हमें अपनी निष्क्रियता की मनस्थिति को जीतने के लिये विवश करती हैं......अर्थात् हमारे जाने बिना जब उन शक्तियों के कारण कलाकृति हमारे अन्तर्जगत में बन जाती है और प्रकट होने के लिये हमसे माध्यम माँगने लगती है...तब हम विश्वास करने लगते हैं कि यह कलाकृति किसी अज्ञात लोक से अवतरित हुई है।"

यहाँ पर जाँ काक्त्यो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहता है जिसे ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है......

"किन्तु यही वह क्षण है जब कलाकार की सचेतन भावना को उसकी अवचेतना को पीछे छोड़ कर, कलासृजन के सूत्र अपने हाथ में ले लेने चाहिये। वह कलाकृति जो अभी रूप नहीं ले पाई है जो साकार होना चाहती है उसे आकार दे कर दूसरे तक प्रेषणीय बनाना...इसका साधन कलाकार अनिवार्यतः ढूँढता है।" मेरा विचार है कि अन्तःप्रेरणा और शिल्प-चेतना का इस पूरी प्रक्रिया में क्या स्थान है इसका अत्यन्त मार्मिक विवेचन इस कथन में हमें मिलता है।

अन्तःप्रेरणा के बाद प्रश्न उठता है पलायन का। वैसे तो यह स्पष्ट है कि कला सृजन की प्रक्रिया में कलाकार अपने दैनिक व्यावहारिक जीवन के सामान्य व्यापार से पृथक् एक दूसरे मानसिक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है।

इसे अक्सर यों भी कहा जाता है कि कला सृजन के मूल में 'ही कलाकार की पलायन वृत्ति काम करती है, वह दैनिक यथार्थ से भाग कर एक आदर्श कल्पना लोक का सृजन करता है। एक छोर पर अनुकरणवाद का सिद्धान्त है और दूसरे छोर पर यह सिद्धान्त। किन्तु इस पलायन वृत्ति वाले सिद्धान्त का मूल तर्क वही फ्रायड वाला तर्क है कि कला सृजन की प्रक्रिया वस्तुतः कलाकार की दमित इच्छाओं की पूर्ति की ओर प्रेरित है। उस सिद्धान्त की एकांगिता पर हम विचार कर ही चुके हैं। किन्तु पिछले दो तीन दशकों से यह पलायन शब्द साहित्य के क्षेत्र में अवैज्ञानिक अर्ध-राजनीतिक निन्दा वचन के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता रहा है और वह भी इस सीमा तक कि वैज्ञानिक कला समीक्षा के क्षेत्र में 'पलायन' का कोई भी अर्थ नहीं रह गया है। किसी न किसी अर्थ में बिना आत्म-लीन हुए कविता का सृजन तो नहीं ही हो सकता। अखबारी, या व्यावसायिक या प्रचारात्मक चीजें भले लिख डाली जायँ। उस अर्थ में कला सृजन का जो वास्तविक उत्स अपने अन्दर है, उस तक पहुँचने के लिए अगर कलाकार कभी निरर्थक और अनुपयोगी बाह्य औपचारिक यथार्थ से पलायन कर आत्म-लीन होता है...तो वह तो उच्चस्तर की कला सृजन की प्रथम और अनिवार्य शर्त है।

किन्तु हाँ कला के क्षेत्र में पलायन का एक विशिष्ट रूप होता है और निस्सन्देह घातक है। जब कलाकार अपनी अन्तःप्रेरणा का सामना नहीं कर पाता, जो कृति उसमें से उद्भूत होना चाहती है, उससे वह बाहर की ओर भागता है, कुछ आरोपित धारणाएँ स्वीकार करता है, चाहे वह आर्थिक प्रलोभन के कारण हो, या राजनीतिक दबाव के कारण, या सस्ती लोकप्रियता के लोभ के कारण हो...उस समय वह अपनी अन्तःप्रेरणा से पलायन करता है, उससे विच्छिन्न हो जाता है, फलस्वरूप उसकी कृतियाँ झूठी पड़ने लगती हैं और उनका कलात्मक स्तर समाप्त हो जाता है। अपनी अन्तःप्रेरणा से भागने के बहुत से नये नये रास्ते इस युग ने खोज निकाले हैं और मिथ्या कलाकृतियों को आश्रय भी मिलने के साधन आज के युग में जितने विविध और प्रचुर हैं उतने कभी नहीं थे। इस प्रकार के पलायन से बचना और अपनी अन्तः प्रेरणा का विशुद्ध माध्यम बने रहना यह कलाकार का विशेष दायित्व है जिसके प्रति आज उसे सब से अधिक जागरूक बने रहना है।

नयी कविता का आवर्त्त

कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह

प्रत्यक्षं कविकाव्यञ्च, रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च, कस्मैचिद् यदि रोचते॥
—काव्य मीमांसा

नयी कविता के सामने अनुभव का एक वृहत् क्षेत्र आज प्रस्तुत है। वह अनुभव वस्तु-सत्य का है, काव्य-दर्शन का है, शिल्प-कौशल और अन्य शैलीगत विशिष्टताओं का है। विविध समयों पर, विविध रूपों में, काव्य-क्षेत्र में अब तक जो नये-नये प्रयोग होते रहे हैं उनका सही-सही लेखा-जोखा आज के कवि के सामने है। वह यथासंभव उनकी एक-एक बारीकी का सजग हो कर विश्लेषण करता है, असफलता के कारण और सफलता के रहस्य को ठीक से समझने का प्रयत्न करता है। साथ ही, जहाँ अपने दिल की धड़कनों को सुनता है, वहाँ औरों के दिल की धड़कनें भी उसे दो क्षण विलमा लेती हैं। अपने वैयक्तिक घेरे में घिरा होने पर भी विश्व का कुहराम उसके कानों को छूता है। अपितु, यह कहना कि वह अपनी ही कुंठाओं से ग्रस्त एक असामाजिक प्राणी है और जो कुछ लिखता है उसके पीछे कोई ठोस आधार-भूमि अथवा जीवंत प्रेरणा नहीं है, बिलकुल बेमानी है।

सच तो यह है कि वह युगचेता होने के साथ-साथ आत्मचेता भी है। वह सदा स्वतन्त्र रहा है और स्वतंत्र आज भी है। 'विश्व का अज्ञात नियामक'[१] वह कल भी था और आज भी है। फिर भी, कुछ व्यक्तियों की दृष्टि में आज यदि वह इसलिये खोटा लगता है कि कविता में दर्शन की ऊँची-ऊँची बातें नहीं करता तो यह समझ-समझ

---

१. शैली: 'डिफेन्स ऑव पोयट्री' का अंतिम वाक्य।

की बात है। निश्चयतः वह दर्शन के सूत्र गढ़ने नहीं बैठता क्योंकि उसकी अन्तश्चेतना अपनी अभिव्यक्ति कुछ और ही प्रकार से माँगती है, और इसीसे उसे अवकाश नहीं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि जो वह कहना चाहता है या कहता है वह किसी दर्शन से कम महत्त्व रखता है। वह दर्शन नहीं छाँटता पर उसकी बातें अपनी महानता में कभी-कभी दर्शन से भी ऊँची उठ जाती हैं।[२] और यही उसका अपना महत्त्व है। महान कवि कोई उपदेश नहीं देता और न मानता है। वह एक आत्मा को पहचानता है, उस आत्मा को जिसका अविजित अभिमान उसके अन्तर की बात के सामने कभी और किसी बात को नहीं सुनता।[३]

एक बात और है। वह पहले से खिंची हुई किसी लकीर पर चलने में विश्वास नहीं करता, स्वयं लकीरें खींचते हुए चलता है। आज का कवि भी अपने लिये एक नया मार्ग निकाल रहा है। किसी नियम के पीछे वह नहीं चल रहा है, नियम को उसके पीछे चलना है। वह अपने प्रति पूर्ण रूप से निष्ठावान है, इसका अर्थ यह नहीं कि औरों से विमुख है; जो उसके हैं और जिनका वह है, उन सब के प्रति वह जागरूक है। उसके कंधे पर जो एक गुरुतर दायित्व आ पड़ा है उसकी जानकारी भी उसे है और उसे निभाने में वह पूर्ण रूप से सचेष्ट है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष में एक संतुलन की स्थापना उसे अभीष्ट है। इसलिये उसे वस्तु-सत्य के सजग विश्लेषण के साथ ही वस्तु-सौंदर्य का सफल उद्घाटन भी करना है; इसीलिये, एक ओर वह 'कविता को मानवीय चेतना की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप'[४] मानता है तो दूसरी ओर उस अभिव्यक्ति में प्रकृत निखार और वेगवती प्रेषणीयता लाने के निमित्त 'छंद को सँवारने की अपेक्षा वस्तु-तत्त्व को व्यवस्थित करने, उसके रूप को उभारने और अनुभूति के मूल ढाँचे (स्ट्रक्चर) को सशक्त बनाने का विशेष प्रयत्न करता है।'[५] फलतः, उसकी कलात्मक ईमानदारी और समाज-सापेक्ष्य अर्थवती मान्यताओं के बल पर नयी कविता आज अपने आवर्त्त में उन सभी तत्त्वों को समेट कर चल रही है जिनकी आवश्यकता किसी भी

---

२. इस प्रसंग में और देखिये—'हिन्दी कविता की नयी संभावनायें' आधार, अंक एक।

३. वाल्ट् ह्विटमेन : 'लीव्ज ऑव ग्रास' की भूमिका।

४. जगदीश गुप्त : नयी कविता, अंक दो, पृ० २७

५. वही, पृ० ३२

काव्य-कृति को समृद्ध बनाने में अनिवार्य रूप से पड़ती है।[६] वह नये युग की नयी सामाजिकता और नयी अभिरुचि की अनिवार्य माँग है जो आज नवीनतम रूप में अभिव्यक्त हो रही है।

फिर भी, कुछ व्यक्ति (जिनमें विशेष आग्रह को ले कर चलने वाले कुछ आलोचक और बदलती हुई परिस्थितियों की बदलती हुई कलात्मक अभिरुचियों के अनुरूप अपने के ढाल सकने में असमर्थ कुछ कवि भी हैं) नयी कविता के इस उत्थान पर संदेह-दृष्टि रखते हैं; वे इस उत्थान को हिन्दी कविता के विकास के क्रम में एक जरूरी कदम नहीं मानते। उनकी बड़ी समझ में नयी कविता वैयक्तिक कुंठाओं से ग्रस्त और भटके हुए कुछ असामाजिक कवियों की आत्माभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं। ये कवि कविता में गीतों की रचना को उतना आवश्यक नहीं समझते, इनके लिये तुकों की कोई बन्दिश नहीं, इस लिये उनकी कोप-दृष्टि का निशाना बन रहे हैं। (किन्तु, वे स्वयं क्या कर-समझ रहे हैं, इसका उन्हें पता नहीं !) नयी कविता उन्हें एक प्रकार से चक्कर में डाले हुए है; कुछ हक्का-बक्का हैं और कुछ घबड़ाहट में आ कर ज़बान पर जो कुछ भी आता है कह डालते हैं। कवि का आत्म-कथ्य उनके लिये 'अंधों का हाथी' हो गया है, और नित-नवीन प्रयोग एक अचंभा। दोष उनका नहीं, कवि का है जो उनके गले पड़ना चाहता है या अनजाने ही पड़ा जा रहा है।

ऐसी स्थिति में जो प्रश्न वे शून्य में कर जाते हैं वह यह है : क्या नयी कविता सचमुच नये युग की नयी सामाजिकता और नयी अभिरुचि की अनिवार्य माँग है ? इससे भी पहले उनके मस्तिष्क में जो एक प्रश्न उठता है वह यह है कि क्या नयी कविता कोई कविता भी है ? वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ी होने में समर्थ है ?[७]

---

६. इस प्रसंग में विशेष जानकारी के लिये देखिये—
(क) पंत : नयी कविता, अंक एक, पृ० ३
(ख) गिरिजाकुमार माथुर : नयी कविता, अंक एक, पृ० ७६
(ग) गिरिजा कुमार माथुर : प्रयोगशील कविता का भविष्य—अवंतिका-आलोचनांक।

७. यहाँ बात को और स्पष्ट कर कहा जाय तो ये प्रश्न उन आलोचकों के नहीं हैं जो आलोचक होने के साथ ही कवि भी हैं, जिनके हाथ नयी कविता के रूप को सँवारने में लगे हुए हैं; या जो कवि नहीं है पर जिनकी आस्था नयी

नयी कविता लिखने वाला कवि और उसमें आस्था रखनेवाला आलोचक इन प्रश्नों को और खोल कर सामने रखता है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता जन-साधारण के सत्य और सरलतम अभिव्यक्ति-माध्यम को अपना कर भी कुछ बाद चल चर क्यों फीकी पड़ गयी? छायावाद एक उच्चतम कलात्मक सौष्ठव को प्राप्त कर लेने पर भी प्रगतिवादी कविता के लिए राह देने पर क्यों विवश हुआ? और फिर, प्रगतिवादी कविता ही, यद्यपि कि उसे सामाजिक चेतना का ठोस आधार मिला हुआ था, जन-जन के पास पहुँचने की सामर्थ्य रखते हुए भी क्यों नहीं टिकी रही? कुछ प्रगतिवादी (जिनमें मार्क्सवादी और फ्रायडवादी दोनों हैं) और कुछ सौंदर्यवादी (मूलतः अन्तश्चेतनावादी) कवियों को कविता में अन्ततः नये-नये प्रयोग करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई? फिर, सामान्यतः उनके प्रारम्भिक प्रयोग विफल नजर क्यों आये? कवि ने मंजिल पर पहुँच जाने का दावा न कर राहों का अन्वेषी होना ही क्यों स्वीकार किया?

उत्तर साफ और सरल है। हमारे पूर्ण मन की द्योतक वृत्तियाँ मात्र सुन्दर या सत्य से संतुष्ट नहीं होतीं; फिर, चाहे वह सुन्दर और सत्य सामान्य हो या विशेष : उनकी भूख पूर्णत्व की है। और, सुन्दर और सत्य जहाँ मात्र सुन्दर या सत्य है, अधूरा है, एक दूसरे से पृथक हैं; पूर्णता उनमें तब आती है जब वे एक दूसरे से अभिन्न होते हैं। इस पूर्णता तक पहुँच जाने के बाद भी प्रश्न बना ही रह जाता है। जब तक नहीं पहुँच पाते हैं, पहुँचने की अधीरता रहती है, और जब पहुँच जाते हैं तब उसके वृत्त और गहराई नापने के लिए अकुलाहट जगती है जब कि न तो परिधि-रेखा की लम्बाई का कोई हिसाब है,

---

कविता में है, जिनका यह निश्चित विश्वास है कि हम कविता के प्राण-तत्त्व के वैज्ञानिक विश्लेषण, सतर्क वस्तु-चयन और शिल्प-विकास की दृष्टि से उत्तरोत्तर प्रगति करते जा रहे हैं। ये प्रश्न उन सवाक् और अवाक् आलोचकों के हैं जिन्होंने आलोचना-साहित्य की समृद्धि में कभी अपना बहुमूल्य योग दिया है, आज भी एक प्रकार से दे रहे हैं पर जो आज नयी कविता को या तो कविता मानने को तैयार ही नहीं इसलिये उसकी चर्चा तक व्यर्थ समझते हैं और इस कारण से चुप लगा कर उसकी उपेक्षा करते हैं, या उसे कविता मानते भी हैं तो उसी 'समझ' और 'दृष्टि' से जिसके अनुसार 'अगर मैं तोता होता' या 'शुरू हो गयी गाली गुप्ता' के अतिरिक्त नयी कविता में चर्चा का और कोई विषय है ही नहीं।

न गहराई का कोई तल।

इसे और स्पष्ट हो कर ऊपर उठाये गये प्रश्नों के क्रम से कहा जाय तो बात सामने इस प्रकार आती है। द्विवेदीयुगीन कविता सचाई और सादगी का संबल ले कर खड़ी तो हुई परंतु ठीक से सँवर नहीं सकी; लोक-हित के कायल कवि लोक-रुचि के उत्तरोत्तर परिष्कृत होते हुए कलात्मक स्तर के अनुरूप कविता को बढ़ा-सजा नहीं पाये। इसके ठीक विपरीत, छायावाद ने एक परा-काष्ठा तक कलात्मक सौष्ठव को ऊँचा तो उठाया पर लोक-हित और जन-साधारण के सत्य से उसका संपर्क बना नहीं रह सका; अन्ततः इसी दुर्बलता के कारण उसे प्रगतिवादी कविता को राह देने पर विवश होना पड़ा। फिर छाया-वाद की अतिशय कलात्मकता के विरुद्ध घोर वास्तविकता का आधार ले कर उठ खड़ी हुई प्रगतिवादी कविता को भी मुँह की खानी पड़ी क्योंकि सामाजिक चेतना के रूप में जिस सत्य को ले कर वह हम पर हावी होना चाहती थी वह बाद चल कर साम्प्रदायिक रंग में रँग जाने के कारण अग्राह्य सिद्ध हुआ। तब कवि ने निरन्तर रूप से चली आती हुई अपनी इस विफलता का सजग हो कर विश्लेषण किया जिसके फलस्वरूप उसे नये-नये प्रयोग करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फिर वे प्रयोग भी प्रारंभ में सामान्यतः असफल नज़र आये। इसके मूल में दो कारण थे। एक, उसके प्रयोग वस्तु-गत न हो कर, शैली-गत ही रहे। दूसरे संक्रांति-काल की कुछ क्षण की निष्क्रियता में कुछ समय तक पड़े रहने के कारण, शुरू-शुरू में वैयक्तिक घेरे से ऊपर उठना उसके लिए संभव नहीं हो सका—यह कहना अधिक सत्य होगा कि उसके लिये उसने कोई प्रयास ही नहीं किया; और फिर, उसने व्यक्ति-सत्य से समष्टि-सत्य को परखने की कोशिश की जब कि व्यक्ति समष्टि की एक अविभाज्य इकाई हो कर भी अपनी इयत्ता में उससे पृथक् है, उन्हें समझने के रास्ते जुदा-जुदा हैं। सब मिला कर, कुछ समय के लिये एक अराजक स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमें वस्तु और शैली की पहुँच (एप्रोच) में कोई खास भेद नहीं रह गया, वह इस माने में कि प्रतिपाद्य के मुकाबले प्रतिपादन कुछ तगड़ा साबित हुआ, यहाँ तक कि कभी-कभी तो प्रति-पादन में ही प्रतिपाद्य को गल-खप कर साफ हो जाना पड़ा। फिर, वहाँ प्रतिपाद्य का कोई प्रश्न ही नहीं रहा।[८] लेकिन, ऐसी स्थिति देर तक नहीं बनी रही।

---

८. यहाँ एक बात ध्यान देने की है। बात केवल प्रारम्भ में प्रयोगों के असफल नज़र आने की है, इसकी नहीं कि वे सब-के-सब पूरे असफल ही रहे। एक वस्तु की अनिवार्यता के समाप्त हो जाने पर दूसरी वस्तु की अनिवार्यता

फिर, तुरत बाद ही कवि का 'स्टैंड' धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा, उसकी काव्य-वस्तु में उभार और अभिव्यक्ति में निखार आने लगा। फलतः आज के कुहराम के बीच बीते हुए कल की कुहेलिका और आने वाले कल की अरुणिम आभा में अपना पथ खोज रही कविता का साथी कवि आज तक अपने अन्तर में एक अन्वेषी की भूख लिये साधक ही बना रहा, उसकी साधना अभी तक पूरी नहीं हुई। और इसीलिये वह मंजिल पर पहुँच जाने का कभी दावा नहीं करता, दावा तो सिर्फ राहों को अपने पीछे छोड़ चलते जाने का है, अविराम रूप से आगे-और-आगे चलते रहने के अपने अडिग विश्वास का है। और यह निश्चयतः भटकना नहीं है।

तब प्रश्न है : नयी कविता क्या शैली-गत प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं? क्या कवि अभी तक अपने वैयक्तिक घेरे के अन्दर ही कुंठित पड़ा है? सामाजिक चेतना से, समाज के जीवन मरण से उसका कोई वास्ता नहीं? क्या अभी तक वह अपने और भावक-वर्ग के बीच भाव-सेतु का निर्माण नहीं कर सका है? क्या उसकी आग्रह-शून्य काव्य-चेतना उत्तरोत्तर स्पष्ट होती नहीं नज़र आ रही है? क्या उसकी कल्पना-सृष्टियाँ कलात्मक परिणति की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होती नहीं जा रही हैं?

यदि नहीं, तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि नयी कविता हिन्दी कविता के विकास की श्रृंखला में कोई अभिनव और सुदृढ़ कड़ी नहीं है। अपने आप खड़ा होने की उसमें सामर्थ्य नहीं। पर प्रश्न है : क्या ऐसा है?

उठ खड़ी होती है और जब तक यह अनिवार्यता पूर्ण-रूप से प्रतिष्ठित नहीं हो जाती, संक्राति की स्थिति बनी रहती है। शुरू में इस संक्रांति का स्वर अराजक लगता है, अराजक होता नहीं; क्योंकि उस अराजकता के बीच भी एक व्यवस्था पलती रहती है जिसकी रेखायें जब उभरती हैं, अपेक्षित रूप और रंग को ले कर ही, ऐसे नहीं। साधना में असफलता कोई वस्तु नहीं, वहाँ सब सफलता-ही-सफलता है, क्योंकि हर असफलता अपने से भिन्न एक दूसरी सफलता के लिए राह ले कर आती है। प्रारंभ में हमारे प्रयोग अधिकांशतः असफल रहे, यह सत्य है। पर सत्य यह भी है कि उस स्थिति में भी हमने कुछ ऐसे रंग और रूप दिये हैं, कुछ ऐसे भाव-चित्र दिये हैं, कुछ ऐसी कल्पना-सृष्टियाँ हैं जिन्हें अपना कह पाने पर कोई भी काव्य-साहित्य अपनी कलात्मक परिणति को ले कर गर्व कर सकता है। प्रश्न केवल अनपेक्षित दुराग्रह को छोड़ कर ईमानदारी से देखने का है।

उत्तर में प्रथमतः कुछ दृष्टांत दे देना आवश्यक है।

कथ्य की दृष्टि से :

१. सामान्य कथ्य—इसके अन्तर्गत कवि ने कविता का 'स्टैंड' स्पष्ट किया है—

क. मैं वहाँ हूँ : अज्ञेय

ख. नयी कविता : एक संभाव्य भूमिका : अज्ञेय, नयी कविता, अंक दो।

ग. शब्दों के महल : भवानी प्रसाद मिश्र, नयी कविता, अंक दो।

घ. नदी का रास्ता : बालकृष्ण राव, नयी कविता, अंक दो।

ङ. सब कुछ कह लेने के बाद : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नयी कविता अंक दो।

च. नया स्वर : पारस, आधार, प्रस्तुत अंक।

२. विशेष कथ्य—इसके अन्तर्गत चेतना-भूमि की व्यक्ति रूप इकाई और समाज, दोनों ही से संबंधित सत्यों का उद्घाटन किया गया है—

व्यक्ति-रूप इकाई से सम्बन्धित सत्य—

क. टूटा हुआ पहिया : धर्मवीर भारती, कविता, अंक एक।

ख. मैं : पारस, धर्मयुग, २२ जनवरी '५६।

ग. मैं : पुरुषोत्तम खरे, कल्पना, दिसम्बर '५५।

घ. हस्ताक्षर : लक्ष्मीकंत वर्मा, नयी कविता, अंक एक।

समाज अथवा नये युग की सामाजिकता से सम्बन्धित सत्य—

क. समय देवता : नरेश कुमार मेहता, दूसरा सप्तक।

ख. पीस पगोडा, पोस्टर और आदमी : सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, नयी कविता, अंक दो।

ग. फूल को हक दो : केदारनाथ सिंह, नयी कविता, अंक दो।

घ. मैं, तुम और वे : रामावतार चेतन, राष्ट्रवाणी, दिसम्बर '५६।

ङ. कल की तारीख : सत्येन्द्र श्रीवास्तव, आधार, अंक एक।

च. अनागत : किशोरी रमण टंडन, आधार, प्रस्तुत अंक।

कलात्मक परिणति की दृष्टि से :

१. भाव चित्र—

क. कमल के फूल : भवानी प्रसाद मिश्र, दूसरा सप्तक।

ख. तुम्हारे पाँव मेरी गोद में : भारती, दूसरा सप्तक।

ग. पूर्णमासी रात भर : शकुंत माथुर, दूसरा सप्तक।

घ. चौदहवाँ वर्ष : शकुंत माथुर, नयी कविता, अंक दो।

ङ. मुग्धा, विरहा, हूक : मुक्त, यायावर।

च. एक मनस्थिति : चेतन, आधार, प्रस्तुत अंक ।

छ. पुरवा के झोंके, अतृप्ति, चाँदनी और बादल : जगदीश गुप्त, नाव के पाँव ।

२. कल्पना-सृष्टियाँ—

क. लुहार की दुकान : जगदीश गुप्त, आधार, प्रस्तुत अंक ।

ख. ढाक वनी : गिरिजाकुमार माथुर, धूप के धान ।

ग. किरन धेनुएँ : नरेशकुमार मेहता, दूसरा सप्तक ।

घ. दिनांत की राजभेंट : नरेश मेहता, कल्पना, दिसम्बर '५५ ।

ङ. नवम्बर की दोपहर : भारती, नयी कविता, अंक एक ।

च. हू:ऽ : 'मुक्त', यायावर ।

छ. पावस-कन्या : वीरेन्द्र कुमार जैन, समाज, जुलाई '५४ ।

नयी कविता के कथ्यात्मक गांभीर्य, गहराई, ऊँचाई और विस्तार तथा कलात्मक परिणति की ओर संकेत मात्र कर देना ही नये-पुराने कुछ नामों से इन उद्धरणों को देने का प्रयोजन रहा है। नहीं तो, अभी अनेक नाम हैं, अनेक नये हस्ताक्षर हैं, अनेक उद्धरण हैं जो उक्त तथ्यों के प्रमाण में दिये जा सकते थे, और जो जब दिये जाते, उतने ही सशक्त प्रमाणित होते। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत प्रश्नों का सामाधान इतने से भी हो जायेगा।

ये उद्धरण कवि की सामाजिक दायों के प्रति अचल निष्ठा के प्रतीक हैं। ये इस बात के प्रमाण हैं कि कवि अपने स्वयं और स्वयं के अन्यानेक आधारों के प्रति कितना ईमानदार है।

वस्तु-सत्यों के प्रति उसका निष्पक्ष और आग्रह-शून्य दृष्टिकोण उसे निरन्तर ऊँचा उठाता जा रहा है। सर्जन-प्रक्रियाओं की नित नयी होती जा रही आधार-भूमि पर खड़े उसके भाव-लोक और कल्पना-कानन में उसकी कला अपने सप्राण स्पर्श से नित नयी जिन्दगी और नये फूल खिलाती जा रही है। उनमें जीवन की गन्ध और उसकी मादक मधुरिमा है तो प्रकृत रूप का ढीठ आकर्षण भी। धीरे-धीरे उसकी ओर आकृष्ट होने वाले भावक वर्ग और उसके बीच की दूरी मिटती जा रही है। समान रुचि, समान जीवन और सह-अस्तित्व की भावना ने वहाँ आज एक सबल भाव-सेतु का निर्माण-कार्य प्रारंभ कर दिया है जिसे 'एक हो जाने' की युग की अनिवार्यता के हाथ शीघ्रातिशीघ्र पूरा करने में लगे हुए हैं।

आधार भूमि

रामावतार चेतन

गत दो वर्षों से कविता को ले कर जितना विवाद हुआ है हिन्दी साहित्य में इतना विवाद इसके पूर्व कभी नहीं हुआ। और इस सब चर्चा के बीच, नयी कविता क्या है, यह बताने की आवश्यकता नहीं रह गई। पिछले दस वर्षों से यह नयी कविता (नाम भेद से प्रयोगवादी कविता) हिन्दी कविता की प्रमुख धारा रही है। प्रत्येक युग में एक साथ कई धाराएँ चलती रहती हैं—साधारण अवस्था में, ह्रास की ओर या विकास की ओर; किन्तु उस युग की प्रमुख धारा के नाम पर युग का नाम दिया जाता है। अस्तु वर्तमान युग को नयी कविता का युग कहें तो अनुपयुक्त न होगा। आगे आने वाली पीढ़ियाँ जब आज की कविता की छानबीन करेंगी तो उनके सम्मुख जो कविता आज का प्रतिनिधित्व करेगी, वह इसी नयी कविता से छन कर आएगी।

नयी कविता आज बहुत बड़ी मात्रा में लिखी जा रही हैं। किन्तु, ये सारी की सारी कविताएँ प्रतिनिधि कविताएँ हैं, ऐसा मान लेना बड़ी भूल है। इतना अवश्य है कि इस बड़ी मात्रा में ही ऐसे प्रौढ़ व्यक्तित्व भी इतनी तेजी से उभर रहे हैं कि उनके बल पर नयी कविता को पहचान सकना कठिन नहीं रह गया है।

कोई भी सामयिक संकलन आद्योपान्त प्रतिनिधि कविताएँ देने का दावा नहीं कर सकता। दावा हो सकता है—केवल सम्भावनाओं से परिचय कराने का, एक निदर्शन प्रस्तुत करने का। 'आधार' का यह नयी हिन्दी कविता विशेषांक इसी दावे के साथ आ रहा है। इस अंक में ऐसे कवियों की रचनाएँ संकलित हैं जिनकी नयी

कविता पर आस्था है; और निश्चय ही इसका यह अर्थ नहीं कि नयी कविता पर आस्था केवल इतने ही कवियों की है।

नयी कविता, दुरूहता और सर्वसाधारण

नयी कविता इतनी दुरूह है कि सर्वसाधारण के पल्ले नहीं पड़ती, यह बात बार-बार उठाई गई है। इस प्रसंग में कई तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम यह कि क्या नयी कविता की शब्दावली कुछ ऐसी है जिसका अर्थ सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर हो जाता है? नयी कविता जिसने संस्कृत-निष्ठ अप्रचलित शब्दों को छोड़ कर रोज़ की साधारण बोलचाल के शब्दों (वे चाहे किसी भी भाषा से आए हों) यहाँ तक कि सहज अभिव्यक्ति में सहायक ग्राम्य शब्दों तक को अपना लिया है, शब्दावली की दुरूहता का दोष नहीं रखती! दूसरा प्रश्न हो सकता है—क्या नयी कविता का कथ्य देशकाल के अनुरूप हो कर आज के समाज को प्रतिबिम्बित कर रहा है? नयी कविता जीवन के वस्तु सत्यों और संघर्षों को समाहित कर आज के जीवन को आस्थापूर्वक जिस सचाई से प्रस्तुत कर रही है उसे देख कर उसके कथ्य के देश काल के अनुरूप होने में क्या सन्देह हो सकता है! तीसरी बात जो प्रायः उठाई जाती है, वह है उसके रूप के विषय में, और वह यह कि क्या नयी कविता में लय है? किसी भी सूक्ष्म भाव के अधिक से अधिक स्पष्ट रूप में व्यक्त करने में लय जहाँ तक सहायक हो सकती है उतनी लय नयी कविता में अवश्य है। हाँ, उसमें गेयता अनिवार्य रूप से नहीं है, जैसा कुछ लोग कविता से आशा करते हैं। कविता और गीत (गेय) आज के युग में स्पष्ट रूप से दो अलग वस्तुएँ हो गई हैं।

जीवन की परिस्थितियाँ और मान्यताएँ गत पन्द्रह वर्षों में इतनी अधिक और इतनी शीघ्रता से बदली हैं कि यदि इस बीच कोई व्यक्ति संसार से बिल्कुल असम्बद्ध रख कर फिर यहाँ छोड़ दिया जाता, तो उसे विश्वास न होता कि यह वही संसार है जहाँ वह पन्द्रह वर्ष पूर्व रह रहा था। इस विश्रृंखलता में छन्द जीवन से दूर हटता जा रहा है और इसीलिए छन्दों की उपयोगिता सीमित होती जा रही है। गीत गाते हुए हाथ की आटा चक्की घुमाई जा सकती है, टाइपराइटर नहीं चलाया जा सकता। गीत गाते हुए बैलगाड़ियाँ हाँकी जा सकती हैं, मोटरों, रेलों, वायुयानों के इंजिन नहीं चलाए जा सकते। जीवन की रफ्तार हाथ की चक्कियों और बैलगाड़ियों को कितने पीछे छोड़ती जा रही है, यह छिपा नहीं है। आज के जीवन में कार्यों की संख्या बढ़ रही है, इस कारण प्रत्येक कार्य का सेकण्ड प्रति सेकण्ड समय विभाजन

हो रहा है। इसमें गीत की अलापों के लिए भी समय निर्धारित हो गया है और क्योंकि गीतों के बिना भी जिया जा सकता है, इसलिए गीतों के समय का भाग कट कट कर उन कार्यों में लगता जा रहा है जिनके बिना जीना सम्भव नहीं है। संगीत की ध्वनि पर बैठा कर हर बात न कहने का अवकाश है और न सुनने का। ऐसी स्थिति में कविता से गेयता की आशा करना ही भूल है। कविता का उद्देश्य ही गेयता से भिन्न हो गया है।

कविता के रूप में ऐसा परिवर्तन होना आज की परिस्थितियों में नितान्त स्वाभाविक है। जीवन में परिवर्तन हो जाय और कविता में, जो 'मानवीय चेतना की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम रूप' है, कोई परिवर्तन न हो, यह कैसे सम्भव है। इसी के अनुकूल भावकवर्ग की काव्यात्मक रुचि में भी परिवर्तन होना अपेक्षित था; किन्तु यह यथेष्ट रूप में नहीं हो पाया, इसीलिए आज की कविता उसे दुरूह लग रही है। तथा-कथित सर्वसाधारण (जिसमें बहुत बड़ा भाग ऐसे लोगों का है जिन्हें कविता से कभी कुछ लेना देना रहा ही नहीं और न रहेगा) इधर पिछले कुछ वर्षों से कविता के सम्बन्ध में भटक गया रहा है (अधिक सत्य होगा यदि कहें भटका दिया गया रहा है) इसी कारण नयी कविता उसे दुरूह लग रही है। और मैं तो समझता हूँ, इस समय नयी कविता या नया कवि दुरूह नहीं है, दुरूह है कविता की रुचि : तथा-कथित सर्वसाधारण जो पथभ्रष्ट हो गया है, पथभ्रष्ट कर दिया गया है।

इस भटकाव, इस पथभ्रष्टता का मूल है छायावाद और नयी कविता के बीच में कविता के नाम पर कवि सम्मेलनी गीतों का आविर्भाव। द्वितीय महायुद्ध के अन्त होते होते और उसके पश्चात् के पाँच छै वर्षों में आर्थिक असन्तुलन बढ़ा। आर्थिक असन्तुलन अधिकता से न्यूनता और न्यूनता से अधिकता दोनों ही दशाओं में नैतिक सन्तुलन को डगमगा देता है। आर्थिक असन्तुलन थोड़ा नहीं भयानक रूप में आया और इसने भयानक रूप में नैतिकता को झकझोर दिया। नैतिकता की इस नाजुक स्थिति का लाभ हिन्दी फिल्मों ने जी खोल कर उठाया। इसी बीच (१६४६ के लगभग से) हिन्दी फिल्मों में सस्ते, बेअर्थ, कामुकता पूर्ण गानों का समावेश हुआ। काले पैसों ने फिल्मी कम्पनियों की संख्या दसियों गुनी बढ़ा दी थी जिनमें होड़ थी बाजी मार ले जाने की। इस बाजी मारने की प्रवृत्ति ने शिष्ट मनोरंजन की हत्या कर दी। जनता की रुचि के नाम पर भद्दे से भद्दे गाने लिखवा कर संगीत की आकर्षक धुनों के साथ प्रस्तुत किये जाने लगे। केवल गानों के बल पर तसवीरें 'हिट' होने लगीं। फिल्म प्रदर्शन

गृहों और उससे कई गुनी अधिक बार रेडियो (आल इण्डिया रेडियो, गोआ रेडियो, नेपाल रेडियो, रेडियो सीलोन आदि) और लाउड स्पीकरों ने जो इन गानों की झड़ी लगाई तो जनता इन्हीं में डूबने उतराने लगी। उस समय जनता के पास भी नया नया पैसा आया था, जी खोल कर फिल्में देखी गई, रेडियो ग्रामोफोन खरीदे गए और लाउडस्पीकर बजवाए गए। फिल्मी कम्पनियों ने पैसा बटोरा, गीतकारों को पैसा मिला और उन्होंने जनता की रुचि की खूब सेवा की। ये कवि 'महाकवि' के टाइटिल के साथ लिखे जाने लगे। और इस 'महाकाव्य' परम्परा का झण्डा उठा कर जनता के मंच पर आ खड़े हुए हमारे कवि सम्मेलनी गीतकार जिन्होंने फिल्मों द्वारा गिराई हुई रुचि की पृष्ठ-भूमि पर अभिनय आरम्भ किया। क्योंकि ये बिना साज के भी लगभग उतने ही रसीले लगने लगे इसलिए जनता बड़े कुतूहल से इनकी ओर दौड़ पड़ी। फिर क्या था, जनता की रुचि थी और हमारे बहादुर सम्मेलनी कवि; कविता की खूब गति बनी। आज यहाँ कवि सम्मेलन, कल वहाँ। जनता काव्य (?) रस में शराबोर हो गई। हमारा आज का तथा-कथित सर्वसाधारण इसी जनता का बड़ा भाग है।

ऐसे संक्रान्ति काल में किनारे रह रह कर एकान्त सृजन की पूँजी नयी कविता सामने आई। मंच से इसका कोई सम्बन्ध था नहीं, प्रेस के ही माध्यम से इसका आना हुआ। जनता जो अभी अभी कविता नाम की चीज़ को मंच से फिल्मों की धुनों पर सुन कर आई थी उसके पल्ले यह कैसे पड़ती, उसे दुरूह कैसे न लगती। कुहराम मच गया—यह क्या है? हटाओ, हटाओ! किन्तु नयी कविता हटाई न जा सकी। वैसी परिस्थिति में भी वह जो इतने वेग के साथ उभर कर आगे आ गई; यह उसकी अन्तः शक्ति का बलिष्ठ प्रमाण है।

जनता की आँखों का कुहरा धीरे धीरे कम हुआ। जिन गानों के सुनने में उसे बड़ा रस आता था वही जब उसके किशोर किशोरियों की ज़बानों पर नाचने लगे तो उसके कान खड़े हुए। विरोध हुआ। फलतः फिल्मों का सेन्सर कड़ा हुआ, और आल इण्डिया रेडियो ने फिल्मी गीतों का प्रसारण बन्द किया। इधर मंच की कविता जब छप कर सामने आई तो उसके पढ़ने में जनता को कुछ आनन्द न आया। इससे लोगों को आभास हो गया कि यह कविता ग्रामोफोन का रिकार्ड भले बन जाय, साहित्य नहीं बन सकती। यह परिवर्तन मंच की बरसाती ध्वनियों के स्वास्थ्य के बहुत प्रतिकूल पड़ा। कवियों की रोजी जाती रही। कइयों ने कविता के आवेश में छोड़ भागे हुए स्कूल कालेजों

में वापस जा कर नाम लिखाया। लांछन स्वरूप कविता में गतिरोध की घोषणा कर दी गई। छायावादी युग के प्रमुख कवियों ने पहले ही इन गलाकारों (गला प्रधान कवियों) के सामने 'हूट आउट' किये जाने के डर से कवि सम्मेलनों में जाना बन्द कर दिया था। नयी कविता के कवियों ने मंच को कभी उद्देश्य ही नहीं बनाया। अस्तु, कवि सम्मेलनी कविता के ह्रास के साथ बेचारी कवि सम्मेलन नाम की संस्था ही अन्तिम साँसों पर आ लगी। अब कभी ही कभी सुनने में आता है कि अमुक स्थान पर कवि सम्मेलन है। कविता अब पुस्तकों, पत्रिकाओं, संकलनों या रेडियो में रह गई है ; या फिर गोष्ठियों में, जहाँ केवल वही व्यक्ति पहुँच पाते हैं जिनका उद्देश्य वस्तुतः कविता का आस्वादन होता है।

जैसा मैंने पहले लिखा दुरूहता नयी कविता में नहीं पाठक वर्ग में है। फिर भी इसके कारण कवि और पाठक में दूरी तो है ही। इसे हमें समाप्त करना है। और यह कार्य हमारे कवि आलोचक ही कर सकते हैं। हमारा पाठक वर्ग यदि भटक गया है तो उसे घृणा करना, उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं। हमें उसे कोसना नहीं है, प्यार के साथ उसमें फिर से काव्य प्रेम के संस्कार जगाने हैं, उसके भटकाव का परिहार करना है। ऐसी दशा में आवश्यक है कि नयी कविता के विषय में जो कुछ कहा जाय वह नयी कविता की ही भाषा में न कहा जाय। नयी कविता की प्रकृति का विवेचन बहुत सरल ढंग से सहानुभूति पूर्वक सामान्य पाठक के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय, कविता का पाठक इसी की प्रतीक्षा कर रहा है। नयी कविता के प्रति उसमें पूरी उत्सुकता जाग चुकी है और उसे ग्रहण करने के लिए वह तत्पर है। हमें उससे सहयोग करना है और नयी कविता को निश्चित रूप से सर्वसाधारण के उस भाग तक पहुँचा देना है जिसका कविता से दैनिक सम्बन्ध है; वह जो अ से एम० ए० तक कहीं भी पाठ्यक्रम में नयी कविता नहीं पढ़ रहा है।

●

विज्ञापन

दी इन्दौर मालवा युनाइटेड मिल्स लि०

तीन संकलन

कहानियाँ : १९५५
एकांकी : १९५५
लेख : १९५५

सम्पादक
गो० प० नेने : वसन्त देव
रामबहादुर सिंह 'मुक्त'

महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा
राष्ट्रभाषा भवन, नारायण पेठ
पूना–२
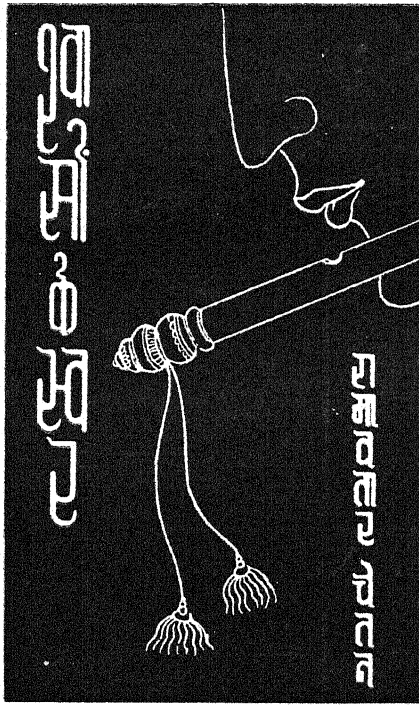
रामावतार चेतन द्वारा क्षितिज प्रकाशन के लिए भारतीय पुस्तक भंडार, कालबा देवी रोड, बम्बई-२ से प्रकाशित और इन्द्रचन्द्र नारंग द्वारा कमल मुद्रणालय, ३१२ रानीमंडी, इलाहाबाद में मुद्रित ।